



WAH MUJHMEIN AUR MAIN USMEIN

First Hindi Edition : January-2006

Adapted into Hindi by : **J.P. Pandey**
Assisted by : **R.K. Khullar**

This book is based on the English title "Introduction to Grace and Principles of Spiritual Growth" (Tim Memanigle) published by the Fellowship Bible Church 3217, Winchester, VA. (U.S.A.)

Copyright © The Fellowship Bible Church,
Winchester, VA. (U.S.A.).

All rights reserved

Printed in Nepal

विषय सूची

| | | |
|-----|----------------------|-----|
| 1. | प्राथमिक आवश्यकता | 7 |
| 2. | प्रारम्भिक प्रेम | 13 |
| 3. | व्यवस्था और अनुग्रह | 20 |
| 4. | प्रभु से जीवन | 24 |
| 5. | पाँच हजार को भोजन | 28 |
| 6. | मिस्र और मरुभूमि | 35 |
| 7. | मूसा का संदेश | 41 |
| 8. | प्रतिज्ञात् देश | 47 |
| 9. | विश्वास | 51 |
| 10. | समय | 56 |
| 11. | स्वीकार्यता | 62 |
| 12. | उद्देश्य | 67 |
| 13. | तैयारी | 72 |
| 14. | उसी में परिपूर्ण | 76 |
| 15. | अपनाना | 82 |
| 16. | पहचान | 90 |
| 17. | समर्पण | 100 |
| 18. | अहं | 106 |
| 19. | अहं—त्याग | 111 |
| 20. | क्रूस | 116 |
| 21. | शिष्यता—प्रक्रिया | 133 |
| 22. | विश्राम | 137 |
| 23. | सहायता | 140 |
| 24. | परिष्कार | 146 |
| 25. | स्थायित्व | 152 |
| 26. | स्थापना और अवस्था | 160 |
| 27. | शारीरिक और आत्मिक जन | 168 |
| 28. | लहू का महत्व | 173 |
| 29. | क्रूस का महत्व | 178 |
| 30. | आत्मा से परिपूर्ण | 185 |

प्रस्तावना

इस पुस्तक में “परमेश्वर के अनुग्रह” के बारे में अध्ययन पर विशेष जोर दिया गया है, क्योंकि कलीसियाओं में प्रायः “विश्वास के द्वारा अनुग्रह” से उद्धार पाने की शिक्षा दी जाती है; किन्तु तत्पश्चात् विभिन्न प्रकार के धर्म-कर्म (व्यवस्था) के द्वारा पवित्र एवं धर्मी जीवन जीने की शिक्षा देने की प्रवृत्ति पायी जाती है। परन्तु इस प्रकार के स्व-प्रयास अर्थात् धर्म-कर्म या व्यवस्था द्वारा पावन जीवन जीने की भावना असफलता से निरन्तर भागते रहने की प्रवृत्ति पैदा करती है। इसके विपरीत परमेश्वर का अनुग्रह हमारे जीवन से असफलता के भय को दूर करता है।

पवित्र बाइबल में प्रभु परमेश्वर को ‘सारे अनुग्रह का’ परमेश्वर बताया गया है, और विश्वासीजन को ईश्वरीय अनुग्रह को पाने वाले अर्थात् कृपा-पात्र का दर्जा दिया गया है। अनुग्रह को कृपा-दृष्टि या हमारे पक्ष में परमेश्वर की दया-दृष्टि कहा जा सकता है। बाइबलीय मायने में अनुग्रह को पक्ष-पोषण या पक्ष-पोषण को अनुग्रह भी कहा जा सकता है। अनुग्रह का सर्वोच्च प्रकटन मानवीय लाचारी अर्थात् असहाय्यता की अवस्था में प्रदर्शित होता है। यदि मानवीय असफलता या चूक की वजह से परमेश्वर अनुग्रह वापिस ले लेने को विवश हो जाए तब तो उसका अनुग्रह, अनुग्रह नहीं रह जाता। सच्चाई तो यह है कि जहाँ कहीं लेशमात्र भी मानवीय योग्यता को महत्व दिया जाता है, वहाँ अनुग्रह की आवश्यकता या महत्ता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त, किसी मनुष्य के प्रति ईश्वरीय अनुग्रह उसके पाप के अनुपात पर आधारित नहीं होता। पाप-सम्बन्धी सवाल का शाश्वत् समाधान हो चुका है और प्रत्येक विश्वास करने वाले के

लिए समान अनुग्रह उपलब्ध है। अतः ईश्वरीय अनुग्रह घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता।

रोमियों की पत्री 5:17 में लिखा है : “वे जो अनुग्रह और धार्मिकता के दान को प्रचुरता से पाते हैं, उस एक ही यीशु मसीह के द्वारा जीवन में राज्य करेंगे”। परमेश्वर के अनुग्रह की यह समझ मसीहियत की बुनियाद है। सिर्फ अनुग्रह ही हमें न केवल पाप के दोष-दण्ड से मुक्त कर सकता है बल्कि पाप के अधिकार-सत्ता से भी मुक्त करता है। रोमियों की पत्री 6:14 में स्पष्ट बताया गया है : “तब पाप तुम पर प्रभुता करने नहीं पाएगा, क्योंकि तुम व्यवस्था के अधीन नहीं परन्तु अनुग्रह के अधीन हो।”

परमेश्वर के अनुग्रह को जानना-पहिचानना वर्तमान कलीसिया की एक सबसे प्रमुख आवश्यकता है; और हमारी हार्दिक इच्छा है कि आप जैसे-जैसे इस पुस्तक के अध्ययन में आगे बढ़ते जायें, वैसे-वैसे “प्रभु यीशु मसीह के अनुग्रह और ज्ञान में बढ़ते” जायें (दू0पत0 3:18)।

प्राथमिक आवश्यकता

परमेश्वर का सच्चा ज्ञान, मनुष्य की सबसे महान आवश्यकता है। सच्चे परमेश्वर पर विश्वास के सहारे जीना ही मसीही जीवन है। किन्तु हमारे जीवन में इस विश्वास के कार्य रूप में प्रकट होने के लिए हमें **वचन** का पवित्र आत्मा-प्रदत्त ज्ञान होना परमावश्यक है। सबसे पहले परमेश्वर द्वारा किए गए कार्य का हमें ज्ञान होना जरूरी है, तभी हम उस पर विश्वास कर सकते हैं और अपने जीवन में उसके काम की अपेक्षा कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में पवित्र शास्त्र बाइबल के पुराना नियम से एक उदाहरण पर ध्यान देना सहायक होगा। परमेश्वर की दृष्टि में **यरीहों** एक पराजित नगर था (यहोशू 2:9-11), लेकिन इस्राएली लोग परमेश्वर के इस कार्य को नहीं जानते थे। वे यह नहीं जानते थे कि उस नगर के निवासी चालीस वर्षों से भयग्रस्तता से अपंग हैं। इस्राएलियों की खास (वास्तविक) समस्या यह थी कि उनमें अपने परमेश्वर का ज्ञान नहीं था। अतएव वे मरुभूमि में ही भटकते रहे।

“सत्य का आत्मा” हमारे मन में सत्य की शिक्षा देता है, अर्थात् परमेश्वर पर आश्रित आत्मिक मन में। इस प्रकार के मानसिक ज्ञान से प्राप्त तथ्यों को आधार मान कर हम उन पर विश्वास करते या जानते-मानते हैं। धीरे-धीरे सत्य की गहरी समझ के द्वारा हममें मानसिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ज्ञान का विकास होता है। इस प्रकार हम सिर्फ विश्वास ही नहीं करते बल्कि अनुभवात्मक ज्ञान भी रखते हैं (नीति 23:7 एवं 24:3)। अतः मसीही जीवन की एक महानतम आवश्यकता पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देना बहुत जरूरी

है। मसीही जीवन की बुनियाद एक खास बात पर आधारित है। विश्वासी जीवन एवं इहलौकिक जीवन के लिए यह बात परमावश्यक है, अर्थात् ज्ञान। इसे और स्पष्टता से इस प्रकार कहा जा सकता है : परमेश्वर का सच्चा ज्ञान रखना। रोचक है कि प्रभु यीशु ने अनन्त जीवन को समयावधि के रूप में नहीं बल्कि परमेश्वर के ज्ञान के रूप में परिभाषित किया (यूह0 17:3)। इफिसियों 1:17 में वहाँ की मण्डली के लिए पौलुस ने यही प्रार्थना किया। ध्यान दें कि उसने किसी नयी चीज के लिए प्रार्थना नहीं किया। इसके बजाय, परमेश्वर से स्वयं को उन पर प्रकट करने ("ज्ञान और प्रकाशन की आत्मा") के लिए पौलुस ने प्रार्थना किया। आगे के शब्दों (पदों) में पौलुस यह प्रार्थना करता है कि परमेश्वर उनके मन की आँखों (समझ) को खोल दे जिससे वे "जान सकें" अर्थात् सच्चा ज्ञान प्राप्त करें।

जिसे हम नहीं जानते-पहचानते उस पर सच्चा विश्वास नहीं कर पाते। इसके विपरीत जिसे हम जानते-पहचानते हैं उस पर आसानी से विश्वास कर लेते हैं; और ऐसे विश्वास के लिए प्रयास-परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती, यह तो स्वभावतः होता है। विचारणीय बात यह है कि हमारा 'विश्वास या भरोसा हमारे ज्ञान के अनुपात में होता है'। इसका मतलब यह हुआ कि जिस हद तक परमेश्वर को हम नहीं जानते, उतना ही हम अन्य बातों, वस्तुओं अथवा व्यक्तियों पर आशा-भरोसा करते हैं। रोमियों 10:14 में लिखा है : "उस पर कैसे विश्वास करेंगे जिसके विषय में उन्होंने सुना ही नहीं"। इसी प्रकार कुलुस्सियों 1:9-10 तथा फिलिप्पियों 3:7-8 में भी पौलुस ने विश्वासियों में 'परमेश्वर की इच्छा के ज्ञान, और मसीह के ज्ञान' हेतु प्रार्थना किया है।

अपने आपको प्रकट करने के लिए प्रभु परमेश्वर ने अपना वचन प्रदान किया है। केवल उसके वचन के द्वारा ही उसका ज्ञान सम्भव है। अर्थात् परमेश्वर की बुद्धिमता, उसकी इच्छा, उसका असीम प्रेम, उसकी सर्वशक्तिमान सामर्थ्य, उसकी विश्वास-योग्यता, उसकी पवित्रता, उसका सत्य, उसकी भलाई तथा उसके अनुग्रह एवं उसकी दया का ज्ञान। केवल परमेश्वर के वचन के द्वारा ही हम यह जान सकते हैं कि उसे क्या पसन्द है और क्या नापसन्द। इस ज्ञान का अन्य कोई साधन नहीं है। जरा इस बात पर विचार कीजिए : यदि हम सच्चे परमेश्वर के बारे में किसी अन्य देश के लोगों को बताने के लिए वहाँ जाकर उनकी भाषा एवं रीति-रिवाज को सीख भी लें, तो भी जिस परमेश्वर को हम स्वयं नहीं जानते-पहचानते, उसके बारे में (उन्हें) दूसरों को कैसे समझा सकेंगे? फिलिप्पियों 3:10 के अनुसार, **उसे** जानना जरूरी है। यशायाह भविष्यवक्ता अपनी पुस्तक के 1:2-3 में यह लिखता है : “बैल तो अपने मालिक को, और गदहा अपने स्वामी की चरनी को पहचानता है, पर ... मेरी प्रजा नहीं पहचानती, नहीं समझती है”। यही समस्या **होशे** नबी की पुस्तक के 4:6 में उजागर की गई है : “अज्ञानता के कारण मेरी प्रजा नाश हो जाती है”। यह बात वर्तमान काल में भी सत्य है। यूहन्ना के सुसमाचार के 1:10-11 में लिखा है : “उसके अपनों ने उसे ग्रहण नहीं किया”। क्यों? क्योंकि वे उसे नहीं जानते-पहचानते थे। अर्थात् उनमें उसका सच्चा ज्ञान नहीं था। अतः परमेश्वर के वचन से दूसरा पतरस 3:18 एवं यिर्मयाह 9:23-24 की बात को याद रखना चाहिए।

प्रेरित पतरस ने अपनी दूसरी पुस्तक के शुरू के पहले, दूसरे एवं तीसरे पदों में हमारे लिए परमेश्वर के ज्ञान की आवश्यकता को सुस्पष्ट कर दिया है। आत्मिक तौर से विजयी या

सफल मसीही जीवन किसी टेक्निक, मेथड (विधि) अथवा नकल पर आधारित नहीं है। बल्कि सच्चा मसीही जीवन मसीह की सहभागिता है। यह तो विश्वासी के जीवन में मसीह द्वारा अपना जीवन जीना है। लेकिन यदि हम उसके द्वारा पूर्ण किए गए कार्य को नहीं जानते और न ही उसके वर्तमान कार्य-उद्देश्य को जानते हैं, तो हमारी दशा भी वही होगी जैसा कि होशे नबी की पुस्तक में वर्णित लोगों की दशा - "अज्ञानता के कारण विनाश" की ओर अग्रसर। यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना जरूरी है कि अज्ञानता और अस्वीकार करने में फर्क है। हाँ, कुछ लोग सत्य को नहीं जानते; लेकिन अधिकतर लोग सत्य को अस्वीकार करते हैं। रोमियों की पुस्तक के 1:18 के अनुसार ये वे लोग हैं, "जो सत्य को अधर्म से दबाए रहते हैं"। पवित्रशास्त्र से सुस्पष्ट है कि मनुष्य अक्सर सत्य को अस्वीकार करता है। आइए, होशे 4:6 पर पुनः विचार करें। इस पद के प्रारम्भिक हिस्से में "ज्ञान के अभाव" या अज्ञानता की बात पाई जाती है। परन्तु इसके दूसरे हिस्से में "ज्ञान को अस्वीकार" करने की बात सुस्पष्ट है। "इसलिए कि तूने ज्ञान को अस्वीकार किया है मैं भी तुझे अपना याजक होने से अस्वीकार कर दूँगा"। प्रमुख बात यह है कि उन्होंने ईश्वरीय 'ज्ञान को अस्वीकार कर दिया' था, अतः परमेश्वर उन्हें एक याजक, अगुवे अथवा ख्रीष्ट की एक साक्षी के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता था। प्रमुख समस्या यह है कि सत्य को अस्वीकार करने के कारण, अब वे परमेश्वर पर विश्वास के सहारे जीवन नहीं बिता रहे थे। अब वे स्वयं के बल पर, मनमौजी मार्ग पर तथा मनमर्जी के अनुसार काम कर रहे थे।

इसका अर्थ यह नहीं कि परमेश्वर अनुग्रहकारी नहीं था। बल्कि वास्तविकता यह है कि वह पूर्णरूपेण अनुग्रहकारी है, किन्तु साथ ही साथ वह धर्मी (न्यायी) भी है। पवित्रशास्त्र में ऐसे लोगों के

अनेक उदाहरण पाए जाते हैं जिन्होंने सत्य को अस्वीकार किया। इन उदाहरणों पर ध्यान दें कि ऐसों के जीवन में क्या हुआ। पहला उदाहरण आदम का है, जिसने सत्य (ईश्वरीय आदेश) को अस्वीकार करके वर्जित फल खाया। प्रभु परमेश्वर ने अपने अनुग्रह एवं धैर्य को दर्शाते हुए आदम से बात किया। किन्तु आदम-हव्वा ने अविश्वास का मार्ग अपनाते हुए अपने पाप को नहीं माना, एक-दूसरे पर दोषारोपण किया, तथा सत्य का इनकार किया। नतीजतन मृत्यु, अलगाव एवं विनाश को दावत दिया (उत्प0 3:6-13)।

एक अन्य उदाहरण उत्पत्ति 4:3-10 में पाया जाता है, अर्थात् कैन और हाबिल की कहानी में। कैन और हाबिल दोनों को यह ज्ञात था कि प्रभु परमेश्वर कैसे भेंट-बलिदान को स्वीकार करेगा। हाबिल ने विश्वास से ईश्वरीय मार्ग को अपनाते हुए परमेश्वर की इच्छानुसार भेंट चढ़ाया; लेकिन कैन ने परमेश्वर पर विश्वास नहीं किया, अतएव सत्य को अस्वीकार करते हुए अपनी शक्ति-युक्ति का साधन अपनाया। नतीजतन कैन की भेंट को परमेश्वर ने स्वीकार नहीं किया। परन्तु उत्पत्ति 4:6-7 में कैन से वार्तालाप करते समय प्रभु परमेश्वर की दया-दृष्टि, उसके धैर्य एवं अनुग्रह पर ध्यान दीजिए। कैन के साथ ईश्वरीय तर्क एवं वार्तालाप के बावजूद जब उसने सत्य परमेश्वर को अस्वीकार कर दिया तो उसने भी मृत्यु, अलगाव एवं विनाश को ही बुलाया (उत्पत्ति 4:9-16)।

सत्य को अस्वीकार करने का एक अन्य उदाहरण नूह की कहानी से सम्बद्ध है (उत्पत्ति 6-7)। उस समय के लोग ईश्वरीय योजना के विरुद्ध दुष्टतापूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन्होंने परमेश्वर एवं सत्य को अस्वीकार कर दिया था। प्रभु परमेश्वर ने धैर्य एवं प्रेमपूर्वक उन्हें आगाह किया और उन्हें मन-फिराव के लिए एक सौ बीस वर्ष का समय दिया कि यदि वे पश्चाताप करके

मन-परिवर्तन नहीं करते तो उन्हें इसका गम्भीर परिणाम भुगतना होगा। लेकिन परिणाम सर्वविदित है ... केवल नूह (एवं उसका परिवार) उस समय के महा जलप्रलय से नष्ट नहीं हुए, क्योंकि उसने परमेश्वर की बात पर भरोसा किया और उसके सत्य पर विश्वास-विश्राम किया।

उत्पत्ति 11:1-11 में बाबेल में एक गगनचुम्बी मीनार बनाने का प्रयास करने वालों का वर्णन है। जलप्रलय के बाद, प्रभु परमेश्वर ने नूह तथा उसके लोगों को 'फूलने-फलने, बढ़ने और पृथ्वी पर भर जाने' का निर्देश दिया था (उत्प0 9:1,7)। परन्तु इस कहानी को पढ़ने से स्पष्ट है कि बाबेल में मीनार बनाने वालों ने ईश्वरीय सत्य को अस्वीकार करके मनमानी करना शुरू कर दिया था। इस घटना के परिणाम में उन्होंने भी मृत्यु, अलगाव एवं विनाश को ही निमंत्रण दिया।

बाइबेलीय सत्य प्रभु यीशु मसीह पर केंद्रित है। "मार्ग, सत्य और जीवन" वही है। वह "अनुग्रह और सच्चाई से परिपूर्ण" होकर आया। यदि हम सत्य को अस्वीकार करते हैं, तो प्रभु यीशु मसीह को अस्वीकार करते हैं। अर्थात् उसको "पुनः क्रूस पर चढ़ाते हैं, और खुलेआम उसका अपमान करते हैं"। इस सम्बन्ध में गलातियों की पत्री में दी गई पौलुस की चेतावनी को नहीं भूलना है। काश कि हम धोखे में न रहें, भ्रमित न हों और सत्य का इनकार न करें (यूहन्ना 14:6; यूहन्ना 1:14-17; इब्रा0 6:6; गला0 1:6.9; 3:1-3)।

प्रारम्भिक प्रेम

प्रकाशितवाक्य की पुस्तक के दूसरे अध्याय में इफिसुस की कलीसिया के लिए लिपिबद्ध संदेश पर ध्यान दें : "... मैं तेरे कार्यों, परिश्रम और धैर्य को जानता हूँ, और यह भी कि तू दुष्ट लोगों को सहन नहीं कर सकता और जो अपने आप को प्रेरित कहते हैं पर हैं नहीं, तूने उन्हें परखा है और झूठा पाया है। तुझ में धैर्य है और तू मेरे नाम के कारण दुख उठाते-उठाते थका नहीं"। यह एक अच्छी कलीसिया थी। पौलुस ने उस कलीसिया में अन्य मण्डलियों से अधिक समय एवं सेवा प्रदान किया था। वह सेवारत मण्डली थी, स्थिर मण्डली थी, गलत लोगों से दूर रहने वाली तथा त्यागपूर्ण जीवन बिता रही थी। वे अनेक भले कामों में लगे थे। लेकिन चौथे पद को देखिए! उन्होंने अपना "पहला-सा प्रेम छोड़ दिया" था। हाँ, अपना पहला-सा प्रेम खो नहीं दिया था, बल्कि **छोड़ दिया** था। **पहला** प्रेम क्या है? मसीह की सहभागिता में आने पर यानि उद्धार-प्राप्ति के समय की मसीह के साथ की वह प्रारम्भिक संगति जिसमें सीधा-सादा सा अर्थात् बच्चों जैसा विश्वास पाया जाता है।

अब पाँचवें पद पर विचार करें, जहाँ तीन खास बातों की सलाह दी गई है। **पहली बात** : "स्मरण कर कि तू कहाँ से गिरा है"। याद करें कि जब हम शुरू में प्रभु के पास आए तो हमारे आत्मिक जीवन में क्या हुआ? हमारे जीवन में परमेश्वर के वचन के प्रति लगाव एवं भूख-प्यास थी। प्रार्थना एवं सच्चे विश्वासियों के साथ संगति-सहभागिता के लिए लगन थी। **दूसरी बात** : "मन फिरा"। यहाँ मन-विचार परिवर्तन की सलाह दी गई है। पश्चाताप का

अर्थ है, मन फिराना या मन परिवर्तन। इस सलाह-संदेश का मतलब यह है कि प्रभु के पास आने पर तुममें जो मनोवृत्ति पैदा हुई थी उसी में वापस जाओ। अपने वर्तमान सोच-विचार की शैली में बदलाव आने दो और शुरुआती मसीही जीवन की सीधे-सादे विश्वास वाली मनोवृत्ति में वापस जाओ। **तीसरी बात** : “पहिले के समान कार्य कर”। प्रारम्भिक मसीही जीवन के समय प्रार्थना, वचन-मनन, प्रभु के साथ आत्मिक संगति-सहभागिता जैसी आध्यात्मिक आदतें (व्यायाम) स्वभावतः सक्रिय थीं। इनके लिए प्रयास-परिश्रम या जोर-दबाव की ज़रूरत नहीं थी। ऐसी संगति-सहभागिता का समय खास तौर पर आशिषमय होता था। पाँचवें पद में आगे लिखा है : “यदि तू मन न फिराएगा, तो मैं तेरे पास आकर तेरे दीवट को उस स्थान से हटा दूँगा”। पवित्र वचन के अनुसार मसीहियों को इस संसार में नमक और ज्योति समान होना है। संभवतः प्रभु यहाँ यह कह रहा है कि यदि हम अपने सीधे-सादे बालक-समान प्रारम्भिक मसीही विश्वास में वापस नहीं आएंगे तो अपने चहुँओर के लोगों के लिए ज्योति समान नहीं रह जाएंगे।

प्रकाशितवाक्य के इन पदों में बहुत से विश्वासियों (मसीहियों) तथा बहुत सी कलीसियाओं की तस्वीर पायी जाती है। संसार के बहुत से मसीहियों में एक खास समस्या दिखाई देती है। अनेक अच्छे एवं प्रेमी मसीही लोग प्रभु के साथ अपनी संगति-सहभागिता के बारे में, प्रभु की सेवा के बारे में और एक-दूसरे के साथ अपने सम्बन्ध के बारे में संघर्षरत हैं। यह चर्च जाने वाले ऐसे मसीही (विश्वासी) हैं जो इस जीवन की समस्याओं की मार से हार खाए हैं। इनमें से अनेक लोग प्रभु की संगति के आनन्द एवं उत्साह को खो बैठे हैं; और प्रकाशितवाक्य के दूसरे अध्याय के उपर्युक्त पदों के अनुसार अपना “पहला-सा प्रेम” त्याग दिए हैं।

पवित्र बाइबल को मानने एवं उसकी शिक्षा देने वाली सुसमाचारीय कलीसियाओं में अनेक ऐसे परिवार हैं जो किसी समय अपनी स्थानीय मण्डली के स्तम्भ समान थे। ऐसे अनेक परिवारों के मुखिया मण्डली के एल्डर, डीकन, घरेलू बाइबल अध्ययन के अगुवे, सण्डे स्कूल टीचर और मण्डली में आत्मिक शिक्षक की सेवा करते थे। उनकी साक्षी एवं सेवा द्वारा अनेक लोग प्रभु एवं स्थानीय मण्डली की संगति में आते थे। लेकिन आत्मिक बातों में अब वे कोई रुचि नहीं रखते। इनमें से अनेक अपने जीवन-साथी (पति या पत्नी) को तलाक दे दिए हैं। उनका परिवार टूट कर छिन्न-भिन्न हो चुका है। उनके बच्चे संघर्षमय जीवन में पड़े हैं, और इनमें से अनेक लोग बाइबल एवं चर्च से दूर रहते हैं। ऐसे लोग अपना "पहला-सा प्रेम" छोड़ दिए हैं।

कुछ समय पहले भारत की एक सेमिनरी में अध्ययन कर रहे एक बाइबल-छात्र ने मुझे दुःखद पत्र लिखा : "... वैसे तो मैं ठीक हूँ, लेकिन आध्यात्मिक पराजय एवं असफलता से लगातार बोझिल व निराश होता रहता हूँ। पाप के साथ संघर्ष मेरी एक सतत समस्या है। अक्सर, अचानक कोई पाप करने को विवश हो जाता हूँ, और पाप कर बैठता हूँ। विश्वासियों के साथ सच्ची संगति का अभाव भी यहाँ एक समस्या है, और यह समस्या मेरी हताशा को और बढ़ा देती है। लगभग प्रतिदिन मैं अकेलेपन की मार झेलता हूँ। हाँ, यहाँ के छात्र धर्मशास्त्र यानि थियोलॉजी की बात करते हैं, थियोलॉजी पर विचार करते हैं और थियोलॉजी पर तर्क भी करते हैं। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि इनमें से किसी ने भी परमेश्वर के प्रेम का अनुभव नहीं किया है। हम सब बुद्धिवाद के शिकार हैं, जिन्हें आपसी प्रेम-सेवा रूपी इलाज की सख्त ज़रूरत है। अब से चार माह बाद मैं अपना अध्ययन पूरा करके सेमिनरी पास करने वाला हूँ।

लेकिन ऐसा लगता है जैसे कि अपने व्यवहारिक मसीही जीवन के लिए मैंने कुछ नहीं सीखा है। बेशक मैंने अपने दिमाग में ढेर सारी थियोलॉजी टूस लिया है, किन्तु मेरे सामाजिक, आध्यात्मिक और नैतिक जीवन में गिरावट आ गई है। अब मैं यहाँ से जाकर दूसरों के बीच परमेश्वर के वचन की सच्ची सेवा कैसे कर सकता हूँ, जबकि उसका वचन मेरे जीवन में ही कार्यकारी नहीं हो पाया है? मेरे लिए इस समय प्रार्थना की जितनी आवश्यकता है, उतनी आवश्यकता इससे पहले कभी नहीं महसूस हुई। हकीकत तो यह है कि 'मैं अपना विश्वास ही खोने लगा हूँ'। ऐसा लग रहा है जैसे कि मसीहियत भी कर्मकांडवाद है। मैंने सच्ची मसीहियत का स्वाद अभी भी नहीं चखा है। कृपया मेरे लिए प्रार्थना करें"।

रोमियों की पत्री का यह वाक्यांश भी इस समस्या की ओर इंगित करता प्रतीत होता है : "उनमें परमेश्वर के लिए धुन तो है परन्तु ज्ञान के अनुसार नहीं"। किसी ने इस वाक्यांश को "रेस ट्रैक क्रिश्चियनिटी" नाम दिया है, अर्थात् दौड़-धूप या क्रिया-कलाप एवं गतिविधियों की बहुलता, किन्तु आध्यात्मिक विकास का अभाव। इस प्रकार की गतिविधि-केन्द्रित (एवं चक्करदार) ईसाइयत लक्ष्यविहीन दौड़ जैसी होती है, और प्रायः हताश, निराश, विश्वासविहीन, आत्मिक शक्तिविहीन एवं फलहीन मसीहियों की गिनती को ही बढ़ाती है। इसके अलावा मसीही विश्वासियों में एक अन्य शब्द बहुत-प्रचलित है - समर्पण। अक्सर इस शब्द के साथ अपनी शक्ति या अपने प्रयास से प्रभु की सेवा का भाव जुड़ा रहता है। अतः विश्वासियों को अर्पित-समर्पित या पुनः अर्पित या पुनः समर्पित करने के लिए उकसाया जाता है। परन्तु परमेश्वर के वचन से स्पष्ट है कि मसीही जीवन जीने का ईश्वरीय तरीका यह नहीं है। अर्थात् अपनी शक्ति, युक्ति या भक्ति के आधार पर मसीही जीवन जीना असम्भव

है। यह समस्या कोई नई समस्या नहीं है। मसीही समाज को यह समस्या आरम्भ से प्रभावित किए है (रोमि0 7:18; यूहन्ना 6:63; गला0 3:1-3; 5:7)।

इस दौड़-धूप रूपी मसीहियत (रेस ट्रेक क्रिश्चियनिटी) का क्या उपचार है? हम परमेश्वर प्रदत्त सामर्थ्य से जीने के लिए रचे गए हैं, न कि स्व-निर्मित युक्ति, शक्ति या प्रयास के सहारे। इस सच्चाई के प्रमाण-स्वरूप यहाँ दिए गए बाइबल पदों पर विचार करना जरूरी है। आजकल बहुत से मसीही अपनी सेवकाई में असफलता एवं हताशा के शिकार इसलिए हैं क्योंकि वे अपनी शक्ति, युक्ति, योजना या स्व-प्रयास के सहारे सेवकाई करने में लगे हैं। बहुत से पास्टर, मिशनरी और संडे स्कूल टीचर आशाविहीन, शक्तिविहीन, बेचैन, थकित, उत्साहविहीन, विश्वासविहीन और फलहीन दिखाई देते हैं। सच्चाई यह है कि मनुष्य की ताकत से किया गया सेवा-कार्य परमेश्वर की दृष्टि में महत्वहीन होता है। प्रेरितों के काम की पुस्तक में लिखा है : “यदि यह योजना या कार्य परमेश्वर की ओर से न हो तो मिट जाएगा; परन्तु यदि यह परमेश्वर की ओर से है तो तुम उन्हें मिटा न सकोगे”।

परमेश्वर के अनुग्रह को जानना-पहचानना वर्तमान कलीसिया की एक सबसे प्रमुख आवश्यकता है - “प्रभु यीशु मसीह के अनुग्रह और ज्ञान में बढ़ते जाना”। अनुग्रह रूपी माध्यम से प्रभु परमेश्वर ने हमारा न केवल उद्धार किया है बल्कि इसी के द्वारा हमारे जीवन को समर्थ बनाता है। अनुग्रह, प्रभु परमेश्वर की ओर से मुफ्त उपहार है। इसे हमने अर्जित नहीं किया है। यह तो मनुष्य के वास्ते परमेश्वर का काम है। इसके लिए हमने लेशमात्र भी कुछ नहीं किया है। बाइबल के प्रत्येक पन्ने में परमेश्वर के अनुग्रह की झलक पाई जाती है। सच्चा बाइबलीय अनुग्रह, खाने की मेज पर धन्यवाद

की प्रार्थना मात्र नहीं है। रोमियों की पत्री के पाँचवें अध्याय के इन शब्दों पर विचार कीजिए : “वे जो अनुग्रह और धार्मिकता के दान को प्रचुरता से पाते हैं, उस एक ही यीशु मसीह के द्वारा जीवन में राज्य करेंगे”। परमेश्वर के अनुग्रह की यह समझ मसीहियत की बुनियाद है। सिर्फ अनुग्रह ही हमें न केवल पाप के दोष-दण्ड से मुक्त कर सकता है बल्कि पाप के अधिकार-सत्ता से भी मुक्त करता है (दू0 पत0 3:18; दू0 कुरि0 9:8-14; यूह0 1:14,16-17; तीतुस 3:5-7; रोमि0 5:17; 6:17)। पवित्र बाइबल में प्रभु परमेश्वर को ‘सारे अनुग्रह का’ परमेश्वर बताया गया है, और विश्वासीजन को ईश्वरीय अनुग्रह को पाने वाले अर्थात् कृपा-पात्र का दर्जा दिया गया है। अनुग्रह को कृपा-दृष्टि या हमारे पक्ष में परमेश्वर की दया-दृष्टि कहा जा सकता है। बाइबेलीय मायने में अनुग्रह को पक्ष-पोषण या पक्ष-पोषण को अनुग्रह भी कहा जा सकता है। अनुग्रह का सर्वोच्च प्रकटन मानवीय लाचारी अर्थात् असहाय्यता की अवस्था में प्रदर्शित होता है। यदि मानवीय असफलता या चूक की वजह से परमेश्वर अपना अनुग्रह वापिस ले लेने को विवश हो जाए तब तो उसका अनुग्रह, अनुग्रह नहीं रह जाता। सच्चाई तो यह है कि जहाँ कहीं लेशमात्र भी मानवीय योग्यता को स्थान दिया जाता है वहाँ अनुग्रह की आवश्यकता या महत्ता नहीं रह जाती। इसके अतिरिक्त, किसी मनुष्य के प्रति ईश्वरीय अनुग्रह उसके पाप के अनुपात पर आधारित नहीं होता है। पाप सम्बन्धी सवाल का शाश्वत् समाधान हो चुका है और प्रत्येक विश्वास करने वाले के लिए समान अनुग्रह उपलब्ध है। अतः ईश्वरीय अनुग्रह को घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता।

प्रभु परमेश्वर का अनुग्रह हमारी महानतम आवश्यकता है। नया नियम में प्राप्त पौलुस की तेरहों पत्रियों के शुरू एवं अन्त में एक ही प्रकार का संदेश पाया जाता है। प्रत्येक पत्री के शुरू में

अभिवादन के बाद वह "परमेश्वर और प्रभु यीशु मसीह की ओर से अनुग्रह और शांति" की बात लिखता है, और आगे चल कर पत्रियों के अन्त में इस प्रकार की भाषा इस्तेमाल करता है : "प्रभु यीशु मसीह का अनुग्रह तुम्हारी आत्मा के साथ रहे"। यहाँ तक कि बाइबल के अन्त में भी इसी अनुग्रह का जिक्र है। (रोमि० १:७; १६:२४; प०कुरि० १:३; १६:२३; दू०कुरि० १:२; १३:१४; गला० १:३; ६:१८; इफि० १:२; ६:२४; फिलि० १:२; ४:२३; कुलु० १:२; ४:१८; प०थिस्स० १:१; ५:२८; दू०थिस्स० १:१-२; ३:१८; प०तिमु० १:२; ६:२१; दू०तिमु० १:२; ४:२२; तीतुस १:४; ३:१५; फिले० १:३; १:२५; प०पत० १:२; दू०पत० १:२; प्रका० २२:२१)।

यह ईश्वरीय अनुग्रह हमें कैसे मिलता है? प्रभु परमेश्वर पर बच्चों जैसे सीधे-सादे विश्वास के द्वारा। प्रभु की सेवा के लिए विश्वासी जन की एक ही योग्यता कामयाब होती है - परमेश्वर के अनुग्रह में बने रहना। हमारा एक ही दायित्व है - परमेश्वर पर आशा-भरोसा अर्थात् विश्वास करना (कुलु० २:६; रोमि० ५:२; यूह० ६:२८-२९)।

व्यवस्था और अनुग्रह

अब तुम "व्यवस्था के अधीन नहीं, वरन् अनुग्रह के अधीन हो"। मसीही विश्वासी लोग अब पुराने यहूदी रीति-रिवाज, धर्म-कर्म या नियम-बंधन के अधीन नहीं हैं। प्राचीन यहूदी धर्म-नियमों के अनुसार उस व्यवस्था के वचन को सुनने वालों को उसका पूर्ण पालन करना था, तभी उन्हें परमेश्वर से आशीष मिल सकती थी। इसलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि मसीह के आने तक यहूदी जन परमेश्वर को अपने कर्मों के द्वारा संतुष्ट करने में लगा था, क्योंकि व्यवस्था की अधीनता का आरम्भ ही इस प्रश्न से होता है कि 'मनुष्य को क्या करना जरूरी है'? लेकिन परमेश्वर के समक्ष ग्रहणयोग्य होने के लिए मसीहीजन किसी धर्म-कर्म या व्यवस्था-बंधन में नहीं हैं। परन्तु हमें एक भ्रान्ति के प्रति खबरदार रहना है। व्यवस्था के अधीन नहीं होने का कुछ लोग यह मतलब समझने लगते हैं कि अब हम अपनी शारीरिक अभिलाषाओं के अनुसार जो चाहें सो कर सकते हैं। ऐसी सोच गलत है। इसके बजाय, व्यवस्था से मुक्त होने का तात्पर्य यह है कि अब हम परमेश्वर की संगति में चलने हेतु तथा अपनी शक्ति के बजाय परमेश्वर की सामर्थ्य में पाप की अधीनता से मुक्त होकर जीवन बिताने के लिए स्वतंत्र हैं (रोमि0 6:14; व्यव0 28:1-2; गला0 5:13)।

प्रायः लोगों में व्यवस्था और अनुग्रह का मिश्रण पेश करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। हमें इस मिलावटी शिक्षा से परहेज करना है। ल्युविस स्पेरी शेफर के अनुसार, "जो शत-प्रतिशत अनुग्रह नहीं है, वह व्यवस्था है"। पवित्रशास्त्र व्यवस्था और अनुग्रह को मिश्रित

करने का प्रोत्साहन नहीं देता। प्रभु यीशु मसीह “पुराने” की मरम्मत करने नहीं आया। वह पूर्णतः नई ‘आशीष’ देने आया। उसकी अनुग्रहपूर्ण शिक्षा पुरानी व्यवस्था की रीति-विधियों में उंडेलने हेतु फिट नहीं है (रोमि0 11:6; मत्ती 9:16-17)।

व्यवस्था और अनुग्रह में भिन्नता की बात मसीह की शिक्षाओं में भी सुस्पष्ट है। इस विचार को समझने के लिए मसीह की दोहरी (द्वि-पक्षीय) सेवकाई पर ध्यान देना सहायक होगा। यीशु मसीह यहूदियों के लिए उनके “पूर्वजों को दी गई” मसीह सम्बन्धी प्रतिज्ञाओं को पूरा करने वाला “सेवक” बना, किन्तु गैर यहूदियों के लिए “परमेश्वर की दया का सेवक”। इस्राएल के साथ यीशु का एक विशिष्ट सम्बन्ध रहा। सिर्फ यहूदी जाति को दी गई मसीहा सम्बन्धी महान प्रतिज्ञाओं को केवल यीशु मसीह ने पूर्णरूपेण पूरा किया। उसने अपनी सेवकाई के शुरु में यह रोचक बात कही, “मैं केवल इस्राएल के घराने की खोई हुई भेड़ों के पास भेजा गया हूँ। इसी प्रकार की टिप्पणी उसने अपने शिष्यों से भी की। एक यहूदी के रूप में उसने व्यक्तिगत तौर पर व्यवस्था की गरिमा को स्वीकार किया, उसका पालन किया और उसका विरोध नहीं किया। परन्तु संसार के मुक्तिदाता एवं एकमात्र आशा के रूप में उसने एक नये जीवन-मार्ग की स्थापना की, और अनुग्रह की अधीनता में आने वाले विश्वासियों का यही जीवन-मार्ग है। एक यहूदी अगुवे के साथ बातचीत करते समय प्रभु यीशु ने यह कहा, “तू मुझ से भले के विषय में क्यों पूछता है? केवल एक ही है जो भला है। यदि तू जीवन में प्रवेश करना चाहता है तो आज्ञाओं का पालन कर”। इसके विपरीत अनुग्रह से उद्धार पाने वालों से बात करते समय उसने यह शिक्षा दी : “उस भोजन के लिए परिश्रम न करो जो नष्ट हो जाता है, परन्तु उस भोजन के लिए जो अनन्त जीवन तक बना रहता है, जिसे

मनुष्य का पुत्र तुम्हें देगा, क्योंकि पिता अर्थात् परमेश्वर ने उसी पर अपनी छाप लगायी है"। इसलिए उन्होंने उससे कहा, "परमेश्वर के कार्य करने के लिए हम क्या करें?" यीशु ने उत्तर देते हुए उनसे कहा, "परमेश्वर का कार्य यह है कि जिसे उसने भेजा है तुम उस पर विश्वास करो" (रोमि0 15:8-9; मत्ती 15:24; 10:5-7; 19:17; यूह0 6:27-29)।

जैसा कि पहले कहा गया कि व्यवस्था इस बात पर जोर देती है कि 'मनुष्य को क्या करना है'? इसके विपरीत अनुग्रह की बात इस प्रश्न से शुरू होती है कि 'परमेश्वर ने क्या किया है'? इसका एक उदाहरण बाइबल के इस पद में पाया जाता है : "परमेश्वर ने जगत से ऐसा प्रेम किया कि उसने ... दे दिया"। अतः व्यवस्था और अनुग्रह रूपी परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की मिश्रित शिक्षा नहीं देनी चाहिए। पवित्रशास्त्र इन दोनों में स्पष्ट अन्तर दर्शाता है।

इस प्रसंग में एक रोचक घटना-क्रम पर विचार करना सहायक होगा : "कुछ लोग यहूदिया से आ कर भाइयों को सिखाने लगे, 'जब तक मूसा की रीति के अनुसार तुम्हारा खतना न हो, तुम उद्धार नहीं पा सकते'। जब पौलुस और बरनाबास का उनके साथ मतभेद तथा वाद-विवाद हुआ तब भाइयों ने यह निश्चय किया कि पौलुस, बरनाबास तथा उनमें से कुछ अन्य लोग इस समस्या के सम्बन्ध में प्रेरितों और प्राचीनों के पास यरूशलेम जाएँ। ... प्रेरित तथा प्राचीन इस विषय पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए। जब बहुत वाद-विवाद हो चुका, तब पतरस ने खड़े होकर उनसे कहा, 'भाइयों, तुम जानते हो कि बहुत दिनों पूर्व परमेश्वर ने तुम में से मुझे चुना कि गैर यहूदी लोग मेरे मुँह से सुसमाचार का वचन सुनें और विश्वास करें। और परमेश्वर ने, जो हृदय को जानता है, हमारी ही तरह उन्हें भी पवित्र आत्मा देकर उनके पक्ष में गवाही दी। इस

प्रकार विश्वास के द्वारा उनके हृदय को शुद्ध करके उसने हम में और उनमें कोई अन्तर नहीं रखा। अतः चेलों की गर्दन पर ऐसा जुआ रख कर जिसे न तो हमारे पूर्वज और न ही हम उठा सके हैं, अब क्यों परमेश्वर की परीक्षा करते हो?" यह विवाद व्यवस्था के बारे में था। अनुग्रह की संतानों पर व्यवस्था का बोझ लादना परमेश्वर की परीक्षा करना और उसके क्रोध को आमंत्रित करने जैसा है। ध्यान दें कि पवित्रशास्त्र में व्यवस्था रूपी बोझ को एक असहनीय बोझ (जुआ) बताया गया है। इसके विपरीत, ख्रीष्ट के जुआ को 'सहज और हल्का' कहा गया है। मत्ती रचित सुसमाचार के ग्यारहवें अध्याय में अनुग्रह के अधीन, विश्वास के आधार पर जीने के बारे में प्रभु यीशु के इन शब्दों पर ध्यान दें : "मेरा जुआ अपने ऊपर उठा लो"। प्रभु यीशु एक ही जुआ अपने विश्वासियों पर रखता है - उस पर विश्वास एवं भरोसा रूपी जुआ। आगे प्रभु की इस बात पर ध्यान दें : "मुझसे सीखो, क्योंकि मैं नम्र और मन में दीन हूँ"। प्रभु यीशु हमारे ऊपर 'यह करो, वह करो' जैसा भारी बोझ नहीं लादता। हमें "उससे सीखने" के लिए आमंत्रित किया गया है; "उसी के पूर्ण ज्ञान के द्वारा" विकसित होने का प्रोत्साहन दिया गया है। इतना ही नहीं, प्रभु यीशु का जुआ व्यवस्था रूपी असहनीय जुए की तुलना में "सहज एवं हल्का" है। अतः पवित्रशास्त्र इस बात की स्पष्ट चेतावनी है कि मसीही विश्वासियों को व्यवस्था बंधन रूपी जुए में नहीं जुतना है। "मसीह ने स्वतंत्रता के लिए हमें स्वतंत्र किया है, इसलिए दृढ़ रहो और दासत्व के जुए में फिर न जुतो" (प्रेरित0 15:1-2; 6-10; मत्ती 11:28-30; कुलु0 2:6; दू0पत0 1:3; गला0 5:1)।

प्रभु से जीवन

मसीहियत धर्म-कर्म से बहुत बढ़ कर है, अर्थात् एक जीवन-मार्ग है। यीशु ही मसीही विश्वास एवं जीवन का मूल तत्व है। हमारा बुलाने वाला पूर्णतः विश्वसनीय है और उसने हमें जिस उद्देश्य से बुलाया है उसे वही पूर्ण भी करेगा। उदाहरणार्थ : "परमेश्वर ने हमें पवित्र होने के लिए बुलाया है," और हमारा "प्रभु विश्वासयोग्य है," जिसने हमें पवित्र जीवन के लिए बुलाया है, वह हमारे जीवन में इस कार्य को अवश्य पूरा करेगा। इस सच्चाई को फिलिप्पियों की पत्री के दूसरे अध्याय में इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है : "स्वयं परमेश्वर अपनी सुइच्छा के लिए तुम्हारी इच्छा और कार्यों को प्रोत्साहित करने के लिए सक्रिय है"। हमें प्रभु यीशु पर न केवल उसकी उस मृत्यु के लिए विश्वास करना सीखना है जिसके द्वारा हमें पाप-दण्ड से छुटकारा मिला है, बल्कि उसके उस (पुनरुत्थान) जीवन पर भी विश्वास करना सीखना है जो अब हममें जीना चाहता है। रोमियों की पत्री के पाँचवें अध्याय के अनुसार मसीह की "मृत्यु" के द्वारा, परमेश्वर के प्रति हमारी शत्रुता की अवस्था से उसके साथ हमारा मेल-मिलाप हुआ है, किन्तु उसके "जीवन" के द्वारा हमारा उद्धार हुआ है (प०थिस्स० 5:24; 4:7; दू०थिस्स० 3:3-5; फिलि० 2:13; रोमि० 5:10)।

हमारे जीवन में ख्रीष्ट का जो जीवन है, अब हमें उसी जीवन पर आश्रित रहना है। इस सम्बन्ध में कुलुस्सियों की पत्री के दूसरे अध्याय का यह वचन बहुत महत्वपूर्ण है : "जैसे तुमने मसीह यीशु को प्रभु मान कर ग्रहण कर लिया है, वैसे ही उसमें चलते

रहो"। उसे हमने कैसे जाना-पहचाना व अपनाया? (1) पहले हमने यह जाना-माना कि हम अपने आप को बचाने में बिल्कुल असमर्थ हैं। (2) इसके बाद हमें प्रभु द्वारा सम्पन्न किए गये कार्य का ज्ञान प्राप्त हुआ। (3) तत्पश्चात् हमने परमेश्वर के अनुग्रह पर विश्वास करके उससे प्राप्त अनन्त जीवन रूपी अनुग्रह को ग्रहण किया। कुलुस्सियों की पत्नी का उपर्युक्त पद हमें यह दर्शाता है कि विश्वासीजन को इसी तौर-तरीके से आत्मिक उन्नति भी करना है। अर्थात् अपनी शक्ति, युक्ति या भक्ति के सहारे मसीही जीवन जीने के निरर्थक प्रयास रूपी अपनी लाचारी को पहचानना, तत्पश्चात् हमारे लिए परमेश्वर-कृत उपाय को जानना, और अन्ततः उसके द्वारा इस उपाय (कार्य) को विश्वास के साथ अपनाना (कुलु0 2:6)।

जरा सोचिए! यदि प्रभु यीशु हमारे जीवन के द्वारा उसी प्रकार का जीवन इस धरती पर जीना चाहता है जैसे कि इस संसार में उसने अपना देहधारी जीवन बिताया था, तब तो हमारे लिए उसकी उस जीवन-शैली का ज्ञान आवश्यक एवं रोचक होगा जिससे कि हम यह जान सकें कि वर्तमान समय में हमारे द्वारा वह कैसा जीवन जीना चाहता है। जैसे वह इस संसार में पिता के द्वारा भेजा गया था, उसी प्रकार वह हमें भी भेजता है। यूहन्ना के सुसमाचार के छठवें, सत्रहवें और बीसवें अध्याय में इस सच्चाई के स्पष्ट प्रमाण पाये जाते हैं। अब सवाल यह है कि यीशु कैसे भेजा गया? पवित्रशास्त्र इस बात की बिल्कुल साफ साक्षी देता है कि वह पिता परमेश्वर पर पूर्णतः आश्रित (अवस्था में) भेजा गया। जैसे वह पिता बगैर कुछ नहीं कर सकता था। उसी तरह आध्यात्मिक मायने में उसके बगैर हम भी कुछ नहीं कर सकते। लेकिन पिता परमेश्वर अपने एकलौते "पुत्र" के माध्यम से क्या कर सकता था? सब कुछ।

मेरे और आपके द्वारा मसीह यीशु क्या कर सकता है? सब कुछ। यीशु कैसे भेजा गया? अपने पिता पर पूर्णतः आश्रित। हम कैसे भेजे गए हैं? (यूह0 6:28-29,38,57; 17:18; 20:21; 5:19,30; 8:28; 14:10; 15:15; फिलि0 4:13)।

सच्चे प्रभु परमेश्वर के सच्चे ज्ञान हेतु यीशु मसीह का ज्ञान मात्र पर्याप्त है। यद्यपि वह आदि से परमेश्वर के साथ था और वह परमेश्वर था और परमेश्वर है; फिर भी, पृथ्वी पर मनुष्य होकर आया। कैसा मनुष्य? जैसे मानव-स्वरूप को प्रभु परमेश्वर आदि से चाहता था, और उसका कार्य-व्यवहार मनुष्य के लिए ईश्वरीय योजना के पूर्णरूपेण अनुरूप रहा। अर्थात् मनुष्य और परमेश्वर के बीच जिस प्रकार के सम्बन्ध की आदि काल से ईश्वरीय योजना रही उसी प्रकार के सम्बन्ध को उसने अपने दैनिक जीवन में अपने पिता के साथ कायम रख कर इस धरती पर मानव जीवन बिताया (यूह0 1:1)।

इसी प्रकार इस संसार में विश्वासीजन भी प्रभु के द्वारा भेजा जाता है। क्यों? इसलिए कि अपने मानव जीवन को परमेश्वर की योजनानुसार बिताए। हमारा कार्य-व्यवहार परमेश्वर की इच्छा-योजना अनुसार हो। अर्थात् प्रभु यीशु मसीह के साथ उस सम्बन्ध में होकर जीवन बिताना जैसा कि मनुष्य और परमेश्वर के परस्पर सम्बन्ध की आदि से ईश्वरीय योजना थी। हमें यह नहीं भूलना है कि जो इंसान परमेश्वर पर विश्वास करते हुए स्वयं को परमेश्वर के लिए उपलब्ध कराता (सौंप देता) है उसके वास्ते प्रभु परमेश्वर का समस्त अथाह अनुग्रह सदैव उपलब्ध है। यीशु मसीह ही वह इंसान था - पिता के लिए पूर्णरूपेण उपलब्ध, उस पर पूर्णतः आश्रित, उसी पर पूर्ण विश्वास एवं भरोसा रखने वाला (रोमि0 12:1; यूह0 8:28-29; फिलि0 2:6-8)।

मसीह के देहधारी जीवन को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार दर्शाया जा सकता है - पिता की ओर से, पिता के द्वारा और पिता के लिए। बैतलहम से लेकर जैतून पर्वत तक के यीशु का जीवन ऐसा ही था। जैसे पिता परमेश्वर ने अपने "पुत्र" को भेजा था उसी प्रकार वह हमें भी भेज रहा है। मसीह यीशु के साथ हमारा वही सम्बन्ध होना है जैसा कि पिता परमेश्वर के साथ उसके देहधारी जीवन का सम्बन्ध था। हमारे विश्वासी जीवन के लिए ईश्वरीय इच्छा-योजना केवल (उसमें वास करने वाले) मसीह यीशु की सामर्थ्य के द्वारा ही पूरी हो सकती है, जैसे कि इस धरती पर विचरण करते समय उसके जीवन में (वास करने वाले) पिता-परमेश्वर की इच्छा-योजना पूरी हुयी। सब कुछ उसी की ओर से, उसी के द्वारा और उसी की महिमा के लिए है (रोमि0 11:36; फिलि0 1:21)।

पाँच हजार को भोजन

किसी ने कहा है कि मसीही जीवन जीना सिर्फ कठिन ही नहीं बल्कि असंभव है। हाँ, मसीह बगैर मसीही जीवन असंभव है। परन्तु रोमियों की पुस्तक के आठवें अध्याय के अनुसार हम मसीह के साथ "सह-उत्तराधिकारी" हैं। इसका मतलब, यदि हम सीधे-सादे विश्वास-विश्राम में उस पर आश्रित रह कर जीवन बिताते हैं तो विश्वास के द्वारा वह तथा जो कुछ उसका है, वह सब हमें उपलब्ध है। किन्तु हमारे लिए जो कुछ पूर्ण किया जा चुका है उसे विश्वास के साथ अपनाना आवश्यक है। वर्तमान काल में हम जिस अनुग्रह में प्रवेश किए हैं, प्रभु पर विश्वास रखते हुए उसमें बढ़ते जाना है (रोमि0 8:17; 5:2; इब्रा0 4:2)।

विश्वास ही मसीही जीवन की बुनियाद है। मसीही जीवन जीने के लिए प्रभु परमेश्वर एवं उसके द्वारा सम्पन्न किए गये कार्य पर सतत् विश्वास की ही जरूरत है। मसीह यीशु का जो कुछ है, वह सब विश्वास के सहारे जीने वाले के लिए उपलब्ध है। यही बात अब्राहम को भी सीखनी पड़ी, जिसके बारे में पौलुस लिखता है : "वह जो एक सौ वर्ष का था, अपने मृतक समान शरीर और सारा के गर्भ की मरी हुई दशा जानते हुए भी विश्वास में निर्बल न हुआ, फिर भी, परमेश्वर की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में वह अविश्वास के कारण विचलित नहीं हुआ, परन्तु परमेश्वर की महिमा करते हुए विश्वास में दृढ़ हुआ, और पूर्णतः आश्वस्त होकर कि जो प्रतिज्ञा उसने की थी, वह उसे पूरा करने में भी समर्थ है"। इस प्रकार मसीही जीवन विश्वास के सहारे ही व्यतीत किया जाना है, और पाँच हजार को

भोजन खिलाने की घटना के द्वारा प्रभु यीशु अपने शिष्यों को यही पाठ सिखाना चाहता था, हालाँकि हमारे समान वे लोग भी यह सीखने में बहुत ढीले थे (कुलु0 2:6-7; रोमि0 4:19-21)।

मरकुस रचित सुसमाचार के छठवें अध्याय में उन पाँच हजार लोगों की कहानी पायी जाती है जो भूखे थे। प्रभु के चेलों को इसके अलावा और कोई उपाय दिखायी नहीं दे रहा था कि उन्हें आसपास के गाँवों में भोजन खोजने-खरीदने के लिए भेज दिया जाय। मत्ती रचित सुसमाचार के अनुसार औरतों और बच्चों को मिला कर यह संख्या पाँच हजार से अधिक थी। यह एक भारी भीड़ थी और इतने लोगों के लिए भोजन का अचानक प्रबन्ध करना चेलों को असंभव लगा। अतः चेलों ने जब अपनी मानवीय बुद्धि से अन्य कोई विकल्प नहीं पाया तो उन लोगों को वहाँ से हटाना-भगाना ही बेहतर समझा। लेकिन सैंतीसवें पद में प्रभु यीशु के प्रत्युत्तर पर ध्यान दीजिए : “तुम ही उन्हें कुछ खाने को दो”। परन्तु इसके बावजूद चेलों की प्रतिक्रिया कैसी थी? “... क्या हम जाकर दो सौ दीनार की रोटियां मोल लाएं और उन्हें खाने को दें?” उसके चेलों की प्रतिक्रिया की खास बात यह थी कि इतने लोगों के लिए पर्याप्त भोजन का प्रबन्ध करना उनके लिए असंभव था। बेशक, मानवीय तौर पर उस परिस्थिति में चेलों द्वारा तत्काल इतने लोगों के लिए भोजन का इन्तजाम करना असम्भव था, और इसीलिए यह काम अंततः मसीह यीशु ने किया। उसने अपने चेलों को दर्शाया कि वह असंभव को संभव करने वाला है (मर0 6:34-38; मत्ती 14:21)।

केवल मसीह यीशु ही मसीही जीवन की व्याख्या एवं परिभाषा है। जैसे अपने भोजन का प्रबन्ध करने में वह लोग असमर्थ थे, उसी प्रकार हम भी अपनी शक्ति से मसीही जीवन जीने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं। यदि हमारे (मसीही) जीवन की मानवीय

व्याख्या सम्भव है तो मसीही जीवन में होने के बावजूद भी हम इसके वास्तविक आधार के अनुसार जीवन नहीं जी रहे हैं। तात्पर्य यह है कि मानव-प्रयास, इच्छा-शक्ति, योग्यता, रुपया-पैसा, साहस, बल-बुद्धि, समर्पण अथवा त्याग-तपस्या के नाम व आधार पर मसीही जीवन की व्याख्या, परिभाषा व मूल्यांकन प्रस्तुत करना इसे मानुषिक शक्ति-प्रदर्शन का उत्पादन दर्शाना है। यदि हमारे मसीही जीवन-शैली का मानवीय शक्ति-प्रयास के रूप में व्याख्या व मूल्यांकन संभव है, तब तो हमारे जीवन और अविश्वासियों के जीवन में कोई भिन्नता नहीं। क्योंकि अविश्वासियों के जीवन की मानवीय व्याख्या व परिभाषा संभव है। तब उनके और हमारे जीवन में मात्र यही भिन्नता दिखायी देती है कि हम मजहबी लगते हैं।

अब यूहन्ना के छठवें अध्याय में पाँच हजार लोगों को प्रभु यीशु द्वारा भोजन देने के विवरण पर ध्यान दें। सातवें पद में फिलिप्पुस नामक चेले की प्रतिक्रिया देखें : “दो सौ दीनार की भी रोटियाँ उनके लिए पर्याप्त न होंगी”। समस्या-समाधान के बारे में इस चेले की सोच में यीशु के बजाय रुपये-पैसे का ही स्थान था। यीशु मसीह नहीं, रुपया-पैसा ही समाधान दिखायी दे रहा था। फिलिप्पुस की जगह यदि कोई भौतिकवादी नास्तिक होता तो उसकी भी यही प्रतिक्रिया हुयी होती : “तुम्हारे पास कितना रुपया है”? अतएव किसी नास्तिक और फिलिप्पुस की प्रतिक्रिया में कोई अन्तर नहीं। क्यों? फिलिप्पुस ने अभी तक प्रभु यीशु पर आशा-भरोसा रख कर उसी पर आश्रित जीवन बिताना नहीं सीखा था। उसकी दृष्टि में आर्थिक संसाधन ही महत्वपूर्ण थे, मसीह यीशु अमहत्वपूर्ण। भला होगा, यदि हम भी अपने जीवन के बारे में विचार करें। क्या हम अपनी प्रत्येक परिस्थिति में मसीह यीशु को प्राथमिकता देते हुए उसी पर आश्रित जीवन जी रहे हैं? क्या हम उसी पर आश्रित होकर

समस्या-समाधान की आकांक्षा रखते हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि फिलिप्पुस की भांति हम भी अपनी दैनिक-जीवन की परिस्थितियों व समस्याओं में प्रभु यीशु मसीह को महत्वपूर्ण समझते हैं?

मरकुस रचित सुसमाचार के छठवें अध्याय में प्राप्त विवरण पर पुनः विचार करें। अड़तीसवें पद के शुरू में प्रभु यीशु की प्रतिक्रिया देखिए : “जाकर देखो!” उन्होंने जाकर देखा, और एक लड़के के पास “पाँच रोटियाँ और दो मछलियाँ” मिलीं। तब, फिलिप्पुस की तरह, अन्द्रियास नामक चेले की प्रतिक्रिया पर ध्यान दें : “इतने लोगों के लिए यह क्या है?” प्रभु यीशु पर आसरा-भरोसा नामक चीज का नामोनिशान नहीं। बहरहाल, प्रभु की आशीष से उन सबको भोजन मिला, और शेष बचे भोजन से बारह टोकरियाँ भर गईं। क्यों बारह टोकरियाँ? संभवतः प्रत्येक शंकालु शिष्य हेतु एक टोकरी भर के भोजन। बेशक यह एक अद्भुत आश्चर्यकर्म था। इसकी कोई मानवीय व्याख्या नहीं। परन्तु इस आश्चर्यकर्म के पीछे प्रभु का एक खास उद्देश्य था, एक खास रहस्य। यह रहस्य वह हम पर भी प्रकाशित करना चाहता है, जैसे कि उस समय अपने चेलों को सिखाना चाहता था। यदि इस खास सीख को हम नहीं जानते-पहचानते तो इस घटना-विवरण का प्रमुख मतलब नहीं समझते। कृपया यूहन्ना के छठवें अध्याय के ग्यारहवें पद को ध्यानपूर्वक देखिए। मसीह यीशु ने किसको धन्यवाद दिया? वह किस पर आश्रित था? पिता परमेश्वर पर। इस संदर्भ में हमें यूहन्ना 5:19,30 की सच्चाई को स्मरण रखना भी जरूरी है। बहरहाल, इन सब घटनाओं के द्वारा उसके शिष्यों ने क्या सीखा? कितना सीखा? कुछ नहीं। यह तथ्य आगे और स्पष्ट हो जाएगा (मर0 6:34-38; यूह0 6:8-14; मर0 6:52)।

प्रभु यीशु द्वारा असंभव को संभव करने का एक अन्य उदाहरण यूहन्ना के ग्यारहवें अध्याय में पाया जाता है। लाज़र नामक उसका एक मित्र बीमार था। अन्ततः वह मर गया। उसकी कब्र के पास पहुँच कर अपने पिता को धन्यवाद देते हुये उसी पर पूर्णतः आश्रित यीशु ने ज़ोर से यह पुकार लगायी : “हे लाज़र निकल आ”। रोचक है कि प्रभु ने लाज़र का नाम लेकर पुकारा। क्यों? यदि उसका नाम लेकर न पुकारा होता तो संभवतः यूहन्ना 5:28 के अनुसार धरती पर प्रत्येक कब्र खाली हो गयी होती।

पाँच हजार लोगों को भोजन देने के विवरण पर पुनः विचार करें। मरकुस के छठवें अध्याय के आखिरी अनुच्छेद में प्रभु यीशु द्वारा अपने चेलों को वहाँ से विदा करने की बात लिखी है। उस भीड़ को भोजन प्रदान करने के बाद प्रभु यीशु ने अपने चेलों को वहाँ से क्यों विदा कर दिया? हो सकता है, उन्हें इसलिए विदा कर दिया क्योंकि पाँच हजार को भोजन खिलाने के आश्चर्यकर्म से उन्होंने कुछ नहीं सीखा। मरकुस के छठवें अध्याय के बावनवें पद के अनुसार, “रोटियों की घटना से कुछ समझने के बदले उनके मन कठोर हो गए थे”। ऐसा लगता है जैसे कि वह अपनी समझ-शक्ति खो बैठे थे। प्रभु के द्वारा मरकुस के आठवें अध्याय के बीच में भी इसी तरह की टिप्पणी पायी जाती है, “क्या तुम अब तक नहीं देखते या नहीं समझते? तुम्हारा मन कठोर नहीं हो गया है”? प्रभु ने यह बात उनसे कही जो उसके सबसे नजदीकी लोग अर्थात् प्रेरित थे - वे उसके साथ चले-फिरे और बातचीत किए थे। तब भी उनके मन कठोर थे। परन्तु प्रभु परमेश्वर का अनुग्रह, उसकी दया-दृष्टि और उसका धैर्य अपार है। आश्चर्यकर्म की प्रत्यक्ष साक्षी होने के बाद की उनकी इस नासमझी के बावजूद भी उसने उन्हें त्यागा नहीं,

बल्कि एक अन्य परिस्थिति में वही सबक सीखने का एक और अवसर प्रदान किया (मरकुस 6:44-52; 8:17-21)।

प्रभु से सीखने के इस नये अवसर का विवरण मत्ती रचित सुसमाचार के चौदहवें अध्याय में है, जहाँ "रात के चौथे पहर झील पर चलते हुए" चेलों के पास आने का विवरण पाया जाता है। प्रभु के द्वारा विदा किए जाने के बाद उसके चेले नाव पर झील में थे और उनकी नाव विपरीत हवा के कारण डगमगा रही थी। वे पूरी ताकत लगा कर हवा की खतरनाक मार से अपनी नाव को बचाने में लगे थे। तब रात के चौथे पहर प्रभु यीशु उनकी ओर आता दिखायी दिया - असम्भव को सम्भव बनाने के लिए उसने उनकी डूबने वाली नैया को बचाने का असम्भव कार्य कैसे किया? वह पानी पर कैसे चल रहा था? यह सब प्रभु यीशु ने उसी प्रकार किया जैसे कि उसने पाँच हजार को भोजन प्रदान किया था, और लाज़र को जीवित किया था। विश्वास के द्वारा, विश्वास में बने रह कर अर्थात् अपने पिता पर आश्रित जीवन-शैली में। कदम-ब-कदम अपने पिता पर निर्भरता का जीवन जीता रहा। जब उसने उन्तीसवें पद में पतरस से "चले आने" को कहा, तब वह भी विश्वास से पानी पर आगे बढ़ कर चलने लगा। हाँ, मसीह पर विश्वास द्वारा असम्भव, सम्भव हो जाता है। किन्तु थोड़े समय बाद पतरस ने क्या किया? उसकी नज़र अपने इर्द-गिर्द की उन परिस्थितियों की ओर लगने लगी जो पतरस के नियंत्रण से परे थीं। इस प्रकार, उसकी दृष्टि (विश्वास) प्रभु यीशु पर से हटने लगी, और वह नीचे गिरने लगा। परन्तु दया के धनी प्रभु यीशु ने तुरन्त उसे संभाल लिया, और पतरस को यह ताड़ना मिली, "हे अल्पविश्वासी तूने क्यों संदेह किया"। क्या इस बार शिष्यों ने कुछ सीखा? ज़रूर। मत्ती के सुसमाचार के चौदहवें अध्याय के तैंतीसवें पद से इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। हमारे आत्म-निरीक्षण के लिए स्वयं से यह प्रश्न करना

सहायक हो सकता है - क्या हम प्रभु यीशु पर पूर्णतः आश्रित होकर विश्वास के सहारे जीवन व्यतीत कर रहे हैं, या फिलिप्पुस और अन्द्रियास के समान उसे अपने जीवन की परिस्थितियों में अमहत्वपूर्ण मानते हैं (मत्ती 14:21-33; प0कुरि0 2:1-2)।

मिस्र और मरुभूमि

प्रभु परमेश्वर द्वारा अपनी प्रजा को मिस्र से निकालना तथा मरुभूमि की लम्बी यात्रा के बाद प्रतिज्ञात् देश में पहुँचाना, पवित्र बाइबल की एक सबसे अद्भुत कहानी है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस घटना-विवरण के द्वारा पवित्र आत्मा हमारे जीवन में परमेश्वर के कार्य करने के तरीके को दर्शाना चाहता है। अर्थात् एक आध्यात्मिक सच्चाई को समझने हेतु एक भौतिक उदाहरण। क्योंकि पवित्रशास्त्र यह कहता है कि पुराना नियम की बातें भी हमारी शिक्षा के लिए लिखी गई थीं। इतना ही नहीं, बल्कि पुराना नियम हमारे लिए चेतावनी समान है। मिस्र देश में होने का मतलब क्या है? मरुभूमि में होने का तात्पर्य क्या है? कनान में होने का अर्थ क्या है? (रोमि0 15:4; प0कुरि0 10:6,11)।

इस्राएली लोग चार सौ साल से अधिक समय तक मिस्र की गुलामी में थे। वे वहाँ निर्दयतापूर्ण यातना के अधीन बंधुआ मजदूर जैसा जीवन जी रहे थे। यद्यपि उनकी संख्या कम नहीं थी, फिर भी वे स्वयं को मिस्र की गुलामी से छुड़ाने में असमर्थ थे। उनकी दशा अत्यन्त दयनीय एवं आशा-रहित थी। बहरहाल, उनकी यह दशा उद्धार-विहीन व्यक्ति की दशा का प्रतीक है (निर्ग0 1:8-16; 2:11-12)।

आदम के पाप में पतन के समय प्रभु परमेश्वर ने अपनी पवित्र आत्मा को मनुष्य की अन्तरात्मा से हटा लिया (अलग कर लिया)। तत्पश्चात् मनुष्य का शरीर व प्राण ही रह गया। तात्पर्य यह

है कि वह (परमेश्वर के प्रति) आत्मिक तौर से मृतक हो गया, परमेश्वर विहीन हो गया; क्योंकि वह परमेश्वर से अलग हो गया था या यूँ कहें कि परमेश्वर ने उसे छोड़ या त्याग दिया था। जैसे भौतिक या शारीरिक जीवन की अनुपस्थिति का अर्थ है भौतिक या शारीरिक मृत्यु; उसी प्रकार आध्यात्मिक (या ईश्वरीय) जीवन की अनुपस्थिति का अर्थ है आत्मिक मृत्यु। मनुष्य इसी आत्मिक मृत्यु की अवस्था में पैदा होता है। इस प्रकार हम पाप-स्वभाव या जन्मजात बुराई लेकर परमेश्वर से शत्रुता की अवस्था में पैदा होते हैं। “... जो मनुष्य में से निकलता है वही मनुष्य को अशुद्ध करता है। क्योंकि भीतर से अर्थात् मनुष्यों के मन से कुविचार, व्यभिचार, चोरी, हत्या, परस्त्रीगमन, लोभ और दुष्टता के काम तथा छल, कामुकता, ईर्ष्या, निन्दा, अहंकार और मूर्खता निकलती है। ये सब बुराईयाँ भीतर से निकलती हैं और मनुष्य को अशुद्ध करती हैं”। इन पदों में प्रभु यीशु द्वारा मनुष्य के पाप-स्वभाव (शारीरिकता) की ओर स्पष्ट इशारा किया गया है। पुराना नियम काल का मिस्र मनुष्य की प्राकृतिक अर्थात् उद्धार-विहीन अवस्था का प्रतीक है। तत्कालीन मिस्र परमेश्वर का शत्रु यानि एक दुष्टतापूर्ण राष्ट्र था। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि इस्राएलियों से ‘क्रूरतापूर्ण बेगारी कराने वाले’ मिस्री मुखिया शारीरिकता तथा हम पर शारीरिकता के बर्बरतापूर्ण कन्ट्रोल के प्रतीक हैं। परन्तु पवित्रशास्त्र से यह बात स्पष्ट है कि परमेश्वर का उद्देश्य यह नहीं था कि इस्राएली लोग मिस्र की गुलामी में पड़े रहें, और न ही परमेश्वर यह चाहता है कि हम आध्यात्मिक मुर्देपन की अवस्था में पड़े रहें। अतः परमेश्वर ने मूसा को खड़ा किया। मूसा तो मसीह का एक प्रतीक था। उसके द्वारा परमेश्वर ने इस्राएलियों को यह निर्देश दिया कि वे एक निर्दोष मेमना बलि करें। अपने लोगों से प्रभु परमेश्वर ने सिर्फ यह कहा कि वे विश्वासपूर्वक उस मेमने के लहू

को अपने दरवाजों एवं उसके चौखटों पर लगा दें, और तत्पश्चात् प्रभु के वायदे पर भरोसे के साथ विश्राम करें। इसी प्रकार हमसे भी प्रभु इतना ही चाहता है कि हम विश्वास के साथ अपनी लाचार (अर्थात् स्वयं को बचाने में असमर्थ) अवस्था के लिए मसीह के लहू को अपनाएं, और उसके क्षमा-दान पर विश्वास-विश्राम करें (रोमि0 5:6-10; मर0 7:20-23; रोमि0 7:19-20; निर्ग0 12:1-13; यूह0 1:29; प0कुरि0 5:7)।

इस्राएलियों की कहानी पर पुनः ध्यान लगाएं। प्रभु परमेश्वर मूसा के द्वारा इस्राएलियों को मिस्र से निकाल कर लाल सागर के रास्ते उनकी अगुवाई करता रहा। जब मिस्री लोगों ने उनका पीछा किया तो वे लाल सागर में ही डूब मरे। शत्रु मृत्यु-स्थल में गाड़ दिया गया। प्रभु के लोग मृत्यु-स्थल पार करके नये देश में नये जीवन की आशा में आगे बढ़े। जैसे मिस्री मुखिया उस मृत्यु-स्थल में ही गाड़ दिए गये जहाँ से होकर प्रभु की प्रजा आश्चर्यजनक रूप में जीवित बच कर अग्रसर होती रही; उसी प्रकार हम भी विश्वासपूर्वक मसीह के साथ अपनी (आध्यात्मिक) एकता को पहचान कर उसके साथ मृत्यु-स्थल में जाते हैं और अपने पुराने पाप-स्वभाव को वहीं गाड़ (छोड़) आते हैं। कलवरी के क्रूस पर दो प्रमुख कार्य पूरे हुए - (1) हम पाप के न्याय-दण्ड से बचाए गए, अर्थात् हमारे दोष-दण्ड के बदले यीशु मरा। (2) हम पाप की अधिकार-सत्ता की अधीनता से छुड़ाए गए अर्थात् हमारा पाप-स्वभाव उसके साथ क्रूसित हुआ (प0कुरि0 10:1-2; रोमि0 6:3-4; 6:6,11,14)।

पवित्रशास्त्र के अनुसार हमारे कार्य-व्यवहार (मन, इच्छा, मनोवेग अर्थात् प्राण) को कंट्रोल करने वाला हमारा पाप-स्वभाव क्रूस पर चढ़ाया जा चुका है। अब विश्वास द्वारा हमें इस सच्चाई को

अपनाना है। और अगर यह सच है तो उस पुराने स्वभाव के स्थान पर हमारा जीवन किसके द्वारा नियंत्रित होना है? उद्धार-प्राप्ति के समय प्रभु परमेश्वर हमारी अन्तरात्मा में उस पवित्रआत्मा को पुर्नस्थापित करता है जो आदम के पतन के समय हटा लिया गया था। जब विश्वासपूर्वक दिन-प्रतिदिन प्रभु पर आश्रित जीवन व्यतीत करते हैं तो क्षण-ब-क्षण पवित्र आत्मा हमारे जीवन में मसीह के जीवन (स्वभाव) का निर्माण करता है। इस प्रकार हम प्रभु के स्वभाव के सहभागी होते हैं। पतरस की दूसरी पत्री के प्रारम्भिक पदों के अनुसार, तब मसीह के स्वभाव की सम्भावनाएं हमारे लिए भी सम्भव हो जाती हैं (यूह0 14:17; कुलु0 1:27-29; गला0 5:16; दू0पत0 1:3-4; फिलि0 4:13; रोमि0 8:17)।

जीवन और ईश्वर-निष्ठा (भक्ति) के लिए आवश्यक प्रत्येक आशिष को प्रदान करने वाला पवित्र आत्मा ही है। वहीं आत्मा के फल भी प्रदान करता है। जब तक विश्वासीजन इस धरती पर है, उसके जीवन में ख्रीस्त का जीवन-स्वभाव निर्मित करने का कार्य भी पवित्रशास्त्र ही करता है। यही पवित्र आत्मा हमारा प्रतिज्ञात् देश है, विश्वासीजन का कनान। इस्राएलियों के लिए पुराना नियम काल का कनान स्वर्ग में नहीं था बल्कि भौतिक आशिषों से भरपूर एक भौगोलिक क्षेत्र था। हमारा कनान भी स्वर्ग में नहीं है। इसके बजाय हमारा कनान आत्मिक आशिषों से भरपूरी का क्षेत्र है। अर्थात् वर्तमान काल में हमारे जीवन में और हमारे जीवन के द्वारा प्रकट होने वाला ख्रीस्त का विजयी जीवन है। वही अर्थात् ख्रीस्त ही हमारी दुर्बलता में अपनी सामर्थ्य प्रदान करता है, हमारी मूर्खता में अपनी बुद्धिमत्ता प्रकट करता है; हमारे दुःख-दर्द में अपना आनन्द प्रदान करता है - यही हमारा कनान है, अर्थात् गुलामी से छुटकारा पाकर एक नए देश में एक नये जीवन में प्रवेश। निर्गमन के समय परमेश्वर का

अपनी प्रजा के लिए यही उद्देश्य था और आज भी विश्वासियों के लिए यही उद्देश्य है। अर्थात् मिस्र की दासता से छुटकारा और लाल सागर से होकर नवजीवन में प्रस्थान (दू०पत० १:३; गला० ५:२२-२३)।

अब प्रश्न यह है कि इतनी महान ईश्वरीय आशिष-योजना के उपलब्ध होते हुए भी, बहुत से मसीही विश्वासी (अपने आत्मिक भरपूरी के क्षेत्र, अर्थात्) कनान में क्यों प्रवेश नहीं करते? वे क्यों **मरुभूमि** में ही जीते हैं? इसका जवाब पाने के लिए एक अन्य प्रश्न की ओर ध्यान देना होगा - इस्राएलियों को चालीस वर्ष मरुभूमि में क्यों बिताना पड़ा? आज के बहुत से विश्वासियों की तरह निर्गमन काल के इस्राएली भी स्वतः आमंत्रित (स्वतः दण्डित) मरुभूमि में जी रहे थे। वे मरुभूमि में व्यतीत हुए अपने प्रत्येक दिन को कनान देश में बिता सकते थे, क्योंकि प्रभु परमेश्वर उन्हें वह देश प्रदान कर चुका था। इसी प्रकार मसीहियों को भी उनका प्रतिज्ञात् (आध्यात्मिक) कनान प्रदान किया जा चुका है (दू०पत० १:३)। इस्राएलियों की समस्या यह थी कि वे इस सच्चाई पर विश्वास नहीं किए कि जो परमेश्वर उन्हें मिस्र की गुलामी से अद्भुत छुटकारा दिया, वह उन्हें प्रतिज्ञात् देश में पहुँचाने में पूर्णरूपेण सक्षम है (गिनती १३:१-१४:३४)।

मरुभूमि शारीरिक मसीही की एक तस्वीर है। हाँ, उसे मुक्ति मिल गयी है, उसमें पवित्र आत्मा भी है। परन्तु इन सब बातों के बावजूद वह स्वतः आमंत्रित आत्मिक दरिद्रता का जीवन बिताता है, क्योंकि वह पराजित किए जा चुके शत्रु अर्थात् शारीरिकता (पाप-स्वभाव) के नियंत्रण में जीता है, जिसे मसीह अपने साथ कब्र में ले गया। हम उन इस्राएलियों से भिन्न नहीं हैं जो चालीस वर्ष

तक उस शत्रु के भय की अधीनता में जीते रहे जिसे प्रभु परमेश्वर लाल सागर में गाड़ चुका था। इस्राएलियों का अविश्वास उन्हें 'ईश्वर-आशीषित कनान के जीवन' से वंचित रखा, जिसे प्रभु परमेश्वर ने उनके लिए तैयार किया था। इसी प्रकार इससे ज्यादा दुःखद क्या हो सकता है कि यद्यपि प्रभु परमेश्वर आत्मिक जीवन एवं ईश्वर-भक्ति के लिए आवश्यक समस्त आशिषें प्रदान कर चुका है, तथापि बहुत से मसीही अपने अविश्वास अथवा अपनी अज्ञानता के कारण परमेश्वर-कृत अनुग्रह-कार्य को विश्वासपूर्वक अपनाने के बजाय व्यर्थ का हाथ-पैर मारते रहते हैं। अनुग्रह को अपनाने का मतलब यह है कि प्रभु परमेश्वर हमारे लिए जो कुछ पूर्ण कर चुका है, उसे ग्रहण करना, अपने जीवन में अपनाना। प्रभु के लोगों को यह सबक सीखने में चालीस वर्ष लग गये कि मिस्र की गुलामी से निकलने हेतु जिस विश्वास की ज़रूरत पड़ी, वही विश्वास कनान में प्रवेश हेतु भी ज़रूरी है। "इसलिए जैसे तुमने मसीह यीशु को प्रभु मान कर ग्रहण कर लिया है, वैसे ही उसमें चलते रहो, ... अरे निर्बुद्धि गलातियों, किसने तुम्हें मोह लिया? तुम्हारी आँखों के सामने यीशु मसीह तो क्रूस पर चढ़ाया हुआ प्रदर्शित किया गया था। मैं तुमसे केवल इतना ही जानना चाहता हूँ कि तुम ने आत्मा को क्या व्यवस्था के कामों से पाया, अथवा सुसमाचार को विश्वास सहित सुनने से? क्या तुम इतने निर्बुद्धि हो कि आत्मा से आरम्भ करके अब देह की विधि द्वारा पूर्णता तक पहुँचोगे?"

मूसा का संदेश

एक मायने में व्यवस्थाविवरण की पुस्तक को बाइबल की एक निराशाजनक पुस्तक भी कहा जा सकता है, क्योंकि यह एक निराश व्यक्ति (मूसा) का वसीयतनामा है। इस्राएलियों के मरुभूमि में भ्रमण के चालीसवें वर्ष के ग्यारहवें महीने के पहिले दिन मूसा ने उनसे जो कुछ कहा वही इसमें दर्ज है। व्यवस्थाविवरण के प्रारम्भिक शब्दों पर ध्यान देने से यह ज्ञात होता है कि इतने वर्षों के सफर के बावजूद अभी वे यरदन नदी के इस पार स्थित अराबा अर्थात् जंगली मरुभूमि में ही थे, जो कि लाल सागर से ज्यादा दूर नहीं था। अभी तक वे यरदन नदी पार नहीं कर पाए थे, अर्थात् मिस्र से निकलने के लगभग चालीस वर्ष बाद भी वे यरदन को पार करके प्रतिज्ञात् देश में प्रवेश नहीं कर पाये थे। उस मरुभूमि में मर-मिटने वाले इस्राएलियों के लिए इब्रानियों की पत्री में यह लिखा है कि वे अपने अविश्वास के कारण कनान में प्रवेश नहीं कर सके (व्यव० 1:1; इब्रा० 3:17-19)।

कितनी गम्भीर बात है कि मूसा की भी गिनती उन्हीं अविश्वास करने वाले विश्वासियों में शामिल है जो मरुभूमि में ही मर गये। उनमें मिस्र से निकलने मात्र का विश्वास था, किन्तु प्रतिज्ञात् देश में प्रवेश हेतु विश्वास नहीं था। बेशक, बहुत से लोग मूसा को एक 'बड़े आत्मिक व्यक्ति' की संज्ञा देंगे। मूसा के बारे में जानने वाले सामान्यतः यह स्वीकार करेंगे कि उस इस्राएली भीड़ में से यरदन के उस पार कनान में जाने के लायक लोगों में मूसा जैसे व्यक्ति का नाम ज़रूर होना था। लेकिन हकीकत यह है कि

प्रतिज्ञात देश पहुँचे बगैर वह उस जंगल या मरुभूमि में ही मर गया। व्यवस्थाविवरण के चौतीसवें अध्याय में मूसा की मृत्यु का कोई स्वास्थ्य सम्बन्धी कारण नहीं दिया है। वह तो कम उम्र में ही मर गया। पवित्र वचन से स्पष्ट है कि मूसा परमेश्वर का प्रियजन था, और स्वर्ग पहुँचने पर हम उसे महान संतों की पंक्ति में पाएँगे। इब्रानियों के ग्यारहवें अध्याय में प्रभु के महान लोगों में उसका नाम भी शामिल है। लूका के नौवें अध्याय में 'यीशु का रूपान्तर' विवरण सम्बन्धी पदों से भी सुस्पष्ट है कि परमेश्वर की दृष्टि में मूसा बहुत महत्वपूर्ण जन था। परन्तु इन सबके बावजूद इस तथ्य की अनदेखी नहीं की जा सकती कि उस बियाबान में प्रभु परमेश्वर मूसा के साथ कड़ाई से पेश आया, जो कि इस सच्चाई का प्रमाण है कि परमेश्वर की नजर में उस पर सच्चे "विश्वास" का बहुत बड़ा स्थान है (गिनती 12:3; 12:6-8; व्यव0 34:10; 34:7; 34:5-6; इब्रा0 11; लूका 9:28-31; इब्रा0 11:6; 10:38)।

ऐसा प्रतीत होता है कि मूसा केवल उतना ही परमेश्वर पर विश्वास कर सका जितना कि हम उसके बारे में इब्रानियों की पत्री के ग्यारहवें अध्याय के चौबीसवें से उन्तीसवें पद तक पढ़ते हैं। उसके विश्वास की बात लाल समुद्र तक ही की गयी है। तत्पश्चात् यहोशू की बात शुरू हो जाती है। इस प्रसंग में पतरस द्वारा पानी पर तब तक चलते रहने की बात याद करें, जब तक कि वह अपनी दृष्टि प्रभु पर से हटा कर इर्द-गिर्द की परिस्थिति पर नहीं लगाया, अर्थात् "हवा को देख कर डर गया"। जब उसका मन नियंत्रण से परे की परिस्थिति की ओर गया, तो वह डूबने लगा (इब्रा0 11:24-29; मत्ती 14:22-30)।

मूसा एक महान लीडर था, एक महान प्रचारक (उपदेशक) था, एक महान प्रशासक था, चरित्रवान था, महान एवं पावन

महत्वाकांक्षाएं रखने वाला व्यक्ति था। किन्तु इन सबके बावजूद वह एक निराश व्यक्ति की तरह मरा। वह जिनके मध्य सेवकाई किया उन्हीं से निराश हुआ, और वे भी मूसा से निराश हो चुके थे। क्या हुआ, क्या कारण?

संभवतः आपको याद होगा कि मूसा की अगुवाई में लाल सागर पार करने के बाद इस्राएली लोग सीन नामक मरुभूमि क्षेत्र में पहुँचे, और वहाँ उन्हें पीने के लिए पानी नहीं था। वहाँ परमेश्वर के आदेश के अनुसार मूसा ने चट्टान पर अपनी लाठी से मारा था और उनके लिये जल मिल गया था। तब लगभग अड़तीस साल बाद वे लोग सीनै नामक मरुस्थल में पहुँचे, और वहाँ भी पीने के लिए पानी नहीं था। इन अड़तीस वर्षों के दौरान मूसा उन लोगों को उस बियावान में एक स्थान से दूसरे स्थान ही ले जाता रहा। सीन नामक स्थान से सीनै नामक स्थान तक, किन्तु मरुभूमि क्षेत्र में ही। कुछ लोग यह सोचते हैं कि स्थान, परिस्थिति या माहौल बदलने मात्र से उनकी समस्या का समाधान हो जाएगा। लेकिन (आध्यात्मिक) बियावान में जीते हुए हम जहाँ कहीं रहेंगे, स्वयं को अनुपयोगी, थकित, निराश, उबाऊ या असंतुष्ट हालत में पाएंगे (निर्गम 17:1-7; गिनती 20:1-13)।

लगभग चालीस साल तक मूसा के नेतृत्व एवं शिक्षा के अधीन होने के बावजूद इस्राएली लोग जब सीनै नामक स्थान में पहुँचे तो मूसा पर एक "एक बुरे" स्थान में लाने का दोष मढ़ने लगे। आज के पास्टर, प्रचारक, मिशनरी, संडे स्कूल टीचर्स की क्या दशा है? क्या जिनके मध्य हमारी सेवा है, वह भी हमसे निराश या असंतुष्ट हैं? क्या हम उन्हें "बुरे स्थान" में ले जा रहे हैं? बहरहाल, उस स्थान पर पानी नहीं मिलने पर प्रभु परमेश्वर ने मूसा को आदेश दिया कि वह एक चट्टान से "बात करे कि वह अपना

पानी दे"। अड़तीस वर्ष पूर्व जब सीन नामक मरुक्षेत्र में उन्हें पानी नहीं मिला तो परमेश्वर ने मूसा को क्या आदेश दिया था? चट्टान को अपनी लाठी से मारने का आदेश दिया था, जो कि 'मसीह और उसके क्रूसित होने' की एक तस्वीर थी। अब सीनै नामक क्षेत्र में परमेश्वर ने चट्टान से सिर्फ बात करने का आदेश दिया - **विश्वास** द्वारा खीष्ट पर भरोसा रखते हुए अपनी बात कहना। यह पुनर्जीवित मसीह की एक तस्वीर है, जो स्वर्गारोहण के पश्चात् पिता की दाहिनी ओर बैठा है और उससे हमारे वास्ते निवेदन करता है। परमेश्वर द्वारा मूसा को दिए गए निर्देश बिल्कुल स्पष्ट थे - चट्टान (यीशु मसीह) को दोबारा मारे जाने (क्रूस पर चढ़ाए जाने) का सवाल ही नहीं था।

परन्तु परमेश्वर के आदेश के प्रति मूसा की प्रतिक्रिया पर ध्यान दें : "तब मूसा ... ने मंडली को उस चट्टान के सामने खड़ा करके कहा, हे दंगा करने वालों, सुनो! क्या हम इस चट्टान से तुम्हारे लिए जल निकालें"? क्या चालीस वर्ष की सेवकाई के बाद मंडली के लोगों से इसी प्रकार बोलने की हमसे उम्मीद की जाती है? प्रभु परमेश्वर ने मूसा से उन लोगों के वास्ते पानी निकालने (मानव-प्रयास) के लिये कभी नहीं कहा। इसके बजाय उसे उस चट्टान से सिर्फ कहने का आदेश मिला था। उनकी आवश्यकता के लिए पानी देना या निकालना तो उस **चट्टान** का काम था (गिन0 20:7-11; प0कुरि0 10:4; इब्रा0 7:24-25; इब्रा0 10:12-14; यूह0 7:38; रोमि0 5:10-11; रोमि0 6:3-4)। प्रभु यीशु मसीह ही एकमात्र जीवित चट्टान है। मसीह की मृत्यु (मारी गयी चट्टान) के द्वारा परमेश्वर के साथ हमारा मेल मिलाप हो गया है। अपने जीवन में उसके जीवनदायी कार्य के द्वारा हम नया जीवन पाते हैं और नये जीवन की चाल चलते हैं।

मूसा भी आज के बहुत से पास्टर, प्रचारक और शिक्षकों जैसा था। अधूरा संदेश (शिक्षा), नतीजतन अधूरा काम। हाँ, वह उन्हें मिस्र से बाहर लाया, लेकिन प्रतिज्ञात् देश में प्रवेश नहीं करा सका। जैसे बहुत से मसीही लोग उद्धार तो पा लिए किन्तु नये जीवन की चाल में नहीं चलते। मूसा ने भी इस्राएलियों के मध्य उपदेश दिया, ताड़ना दिया, फटकार लगाया, प्रोत्साहित भी किया और परिश्रमपूर्ण ईमानदारी के साथ उनके लिए परमेश्वर से विनती-प्रार्थना भी किया। परन्तु वे लोग बारम्बार शिकायत किए, कुड़कुड़ाते रहे और अविश्वास के साथ परमेश्वर से दूर होते रहे। ऐसा लगता है कि यह घटना-विवरण हम सबके लिए एक ईश्वरीय चेतावनी समान है। यदि हम अधूरी शिक्षा देंगे तो परिणाम (काम) भी अधूरा होगा, और मूसा की भाँति हमारे चहुँओर आत्मिक शिशुओं की ही भीड़ होगी, और हम अपना अधिकाँश समय उनके दूध की बोतलें भरने में लगाते रहेंगे - सिर्फ बियाबान में ही घुमाते रहेंगे।

“क्योंकि तुमने मुझ पर विश्वास नहीं किया”। मूसा ने यही पाप किया। विश्वास नहीं करने वाले एक विश्वासी की कहानी। जैसे कि आजकल के बहुत से प्रचारक सिर्फ यही (अधूरी) मुनादी करते हैं कि ‘मसीह के पास आइए और पापों की क्षमा पाइए’। या यूँ कहें कि भविष्य में किसी दिन स्वर्ग मिलेगा, अभी तो मरुभूमि में ही जिओ। ऐसे लोग ख्रीष्ट को क्रूस पर ही छोड़ देते हैं और उसकी सतत् उद्धारदायी सामर्थ्य से अनजान बने रहते हैं। वह ख्रीष्ट जो हमारे बदले मरा और हमें नया जीवन जीने की सामर्थ्य देने हेतु पुनर्जीवित हो उठा (गिन0 20:12; गला0 2:20)।

आगे चलकर प्रभु परमेश्वर ने मूसा के सेवक यहोशू से कहा “मेरा दास मूसा अब नहीं रहा। इसलिए अब उठ और इन सब

लोगों के साथ तू इस यरदन नदी को पार करके उस देश में प्रवेश कर"। दूसरे शब्दों में, 'चूँकि मेरा दास मर चुका है, इसलिए अब तुम आगे बढ़ सकते हो'। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि इस्राएलियों के प्रतिज्ञात देश में प्रवेश करने में आखिरी रुकावट स्वयं मूसा ही था। **बियाबान में मंडली बनाने वाला उस मंडली को बियाबान में ही दफनाया।** मूसा ने भरसक अपना प्रयास किया और अपनी ताकत भर उत्तम परिश्रम-प्रयास किया। लेकिन यही उसकी सबसे बड़ी गलती भी थी। क्योंकि प्रभु परमेश्वर अपनी ओर से सर्वोत्तम करने को तैयार था और इस प्रकार वह सब देने को तत्पर था जिसे सिर्फ पुनर्जीवित "जीवित चट्टान" ही दे सकता है (अर्थात् एक नए देश में एक नया जीवन)। तो मूसा कनान में प्रवेश करने से क्यों वंचित रहा? **अविश्वास** के कारण। यहोशू कनान में कैसे प्रवेश कर पाया? (प्रभु परमेश्वर पर) **विश्वास के द्वारा** (यहोशू 1:1-2; यूह0 10:10; यूह0 6:28-29)।

प्रतिज्ञात् देश

इस पाठ का प्रारम्भ पवित्र बाइबल के एक सुपरिचित पद से करना सहायक हो सकता है : "तुम सत्य को जानोगे और सत्य तुम्हें स्वतंत्र करेगा"। सत्य-ज्ञान में विश्वास-विश्राम के बाद ही असली आध्यात्मिक आजादी मिलती है। आइए, अब हम उस घटना की ओर पुनः ध्यान लगाएं जिसका पिछले अध्याय के अन्त में उल्लेख किया जा चुका है, अर्थात् यहोशू को परमेश्वर से प्राप्त निर्देश एवं प्रतिज्ञात् देश में प्रवेश की ओर प्रस्थान का विवरण। इस्राएलियों को प्रतिज्ञात् देश में ले जाने के बारे में प्रभु परमेश्वर की योजना बदली नहीं थी, हालाँकि मिस्र से निकलने और यरदन के निकट पहुँचने तक चालीस वर्ष बीत गए थे और उनके अगुवा मूसा की मृत्यु हो चुकी थी। जिस सिद्धान्त के आधार पर प्रभु परमेश्वर ने इस्राएलियों को मिस्र से निकाला था, उसी सिद्धान्त के सहारे वह उन्हें प्रतिज्ञात् देश में प्रवेश कराने वाला था। अतः प्रभु परमेश्वर ने यहोशू को आश्वासन दिया कि : "जिस प्रकार मैं मूसा के साथ रहा, उसी प्रकार तेरे साथ भी रहूँगा"। प्रभु के विश्वासी के लिए मात्र यही ज्ञान पर्याप्त है कि सच्चा प्रभु परमेश्वर उसके साथ है (यूह0 8:32; यहोशू 1:1-9; प0 थिस्स0 5:24; इब्रा0 13:5)।

इस्राएलियों का प्रतिज्ञात् देश भौतिक सम्पन्नता का एक भौगोलिक क्षेत्र था - एक सुन्दर देश, सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उपलब्ध संसाधन एवं उनके शत्रुओं के साथ शांति। परन्तु हमारा प्रतिज्ञात् देश भौतिक सम्पन्नता का भौगोलिक क्षेत्र नहीं है। बल्कि हमारा प्रतिज्ञात् देश आध्यात्मिक सम्पन्नता का क्षेत्र है। एक ऐसा

क्षेत्र जहाँ पवित्र आत्मा के फल फलते हैं : प्रेम, आनन्द, भलाई इत्यादि। हमारे प्रतिज्ञात् देश का हमारी भौतिक परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। आध्यात्मिक जन पौलुस की तरह “प्रत्येक परिस्थिति में संतुष्ट रहना” सीखता है (व्यव0 8:7-9; गला0 5:22-23; फिलि0 4:11)।

इस्राएलियों के प्रस्थान-विवरण पर पुनः विचार करें। यहोशू के नेतृत्व को देख कर संभवतः कुछ इस्राएली यह सोचने लगे होंगे कि यह जवान अपने को क्या समझता है, क्या “तीन दिन” में वह काम करेगा जो मूसा चालीस साल में नहीं कर सका? क्योंकि यहोशू ने परमेश्वर की अगुवाई के अधीन यह आज्ञा दी थी कि तैयारी करो और “तीन दिन के अन्दर तुम्हें यरदन नदी को पार करना है”। परन्तु यहोशू के बारे में संदेह एवं सवाल रखने वालों के लिए वास्तविक उत्तर यह था कि यहोशू तो अपने कर्म-प्रयास द्वारा कुछ भी नहीं करने वाला था। वह तो सिर्फ परमेश्वर द्वारा कही गई बात पर विश्वास व भरोसा कर रहा था। अतः तीसरे दिन बड़े सवेरे उन्हें प्रस्थान करना था। उस तीसरे दिन घटित होने वाली एक अन्य घटना को भी स्मरण रखना है, अर्थात् यहोशू ने फौरन कुछ पुरुषों को उस देश का भेद लेने के लिए भेज दिया। इससे हमारे लिए क्या सीखने को मिलता है। चालीस वर्ष तक कनानी लोग पराजित शत्रु समान थे। वे उसी दिन हार मान चुके थे जिस दिन उन्होंने यह सुना कि इस्राएल के परमेश्वर ने अपनी प्रजा के लिए लाल समुद्र को सूखी सड़क समान बना दिया है। वे इस बात के कायल थे कि इस्राएलियों का प्रभु परमेश्वर ही सम्पूर्ण पृथ्वी एवं आकाश का स्वामी है। हाँ, एक बात पर उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि अब तक इस्राएलियों ने उस देश पर इतने अधिक समय तक कब्जा नहीं किया था जिसे अपने वायदे के अनुसार परमेश्वर उन्हें सौंप चुका

था। यह हमारे लिए एक उदाहरण यानि चेतावनी समान है। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पुनर्जीवित मसीह द्वारा प्राप्त विजय से वंचित रह कर हममें से अधिकतर मसीही स्वयं को धोखा देते हैं। वह मृत्यु पर विजयी होकर पुनः जीवित हुआ ताकि हमारे जीवन में अपना जीवन प्रकट व प्रकाशित करे। यहाँ यह भी स्मरणीय तथ्य है कि विश्वासीजन के तीनों शत्रु संसारिकता, शारीरिकता और शैतान भी इस सच्चाई को जानते हैं कि वे पराजित किए जा चुके हैं (यहोशू 1:10-11; 2:9-11; कुलु0 2:15; रोमि0 8:37; प0कुरि0 15:57)।

यहोशू की पुस्तक का तीसरा अध्याय इस्राएलियों के कनान में अद्भुत तरीके से प्रवेश करने की तस्वीर पेश करता है। मिस्र से निकलने के चालीस वर्ष बाद, अब अन्ततः वे कनान में दाखिल हुए। मिस्र से निकलने के बाद लाल समुद्र कैसे पार किए थे? वे लोग पानी के पास गए और परमेश्वर ने पानी को दो फाँक करके सूखा मार्ग बना दिया था। अब कनान देश में प्रवेश करते समय यरदन नदी की जलधारा को कैसे पार किए? जल में उन लोगों के पैर रखते ही जलधारा थम गई और प्रभु परमेश्वर ने उस नदी में सूखा मार्ग बना दिया। कनान में प्रवेश करना मिस्र से प्रस्थान करने की तुलना में कितना कठिन था? उतना कठिन बिल्कुल नहीं था, किन्तु उन्हें यह जानने-समझने में चालीस साल लग गए। जैसे उन इस्राएलियों के लिए था, वही हम मसीहियों के लिए भी सच है। इसीलिए हमारे जीवन की बुनियाद के रूप में नया नियम के इस बाइबल-पद को स्मरण रखना चाहिए : “**जैसे** तुमने मसीह यीशु को प्रभु मानकर ग्रहण कर लिया है, **वैसे ही** उसमें चलते रहो”। जो सिद्धान्त उन इस्राएलियों के लिए था वही हमारे लिए भी है। यह सरल व सीधी सी बात याद रखना हितकर होगा। हम अपने मिस्र

(उद्धारविहीन दशा) से कैसे निकले? हम प्रवेश कैसे करते हैं। हम बाहर कैसे आए? हम अपने प्रतिज्ञात् देश में कैसे प्रवेश करते हैं? (देखें : यहोशू 3:13-17; कुलु0 2:6; रोमि0 5:1-2)।

प्रतिज्ञात् देश अर्थात् कनान में इस्राएलियों के प्रवेश के प्रसंग से आगे बढ़ने से पूर्व इस सम्बन्ध में एक अन्य विचार पर ध्यान देना लाभकर है। कनान में प्रवेश के बाद यहोशू अपनी 'आँख उठाकर' यरीहो नगर की ओर देख रहा था, और उसके ऐसा करते समय उसने अपने समीप "एक पुरुष को हाथ में नंगी तलवार लिए" खड़ा देखा। तब यहोशू ने उससे पूछा कि आप किसकी ओर हैं, हमारी ओर या हमारे विरोधियों की ओर? उस "पुरुष" के प्रत्युत्तर पर विशेष विचार कीजिए : "नहीं, मैं तो यहोवा की सेना के सेनाध्यक्ष के रूप में आता हूँ"। दूसरे शब्दों में, उस व्यक्ति के उत्तर का भावार्थ यह था कि 'मैं तो तुम्हारी या उनकी ओर नहीं, बल्कि मैं तो सर्वोपरि नियंत्रण रखने आया हूँ'। अपने प्रतिज्ञात् देश में प्रवेश के बाद हमें अपनी युक्ति-योजना बना कर ईश्वरीय आशीष की उम्मीद करने नहीं बुलाया गया है। **यरीहो, हमारी समस्या नहीं, बल्कि प्रभु परमेश्वर की समस्या है।** हमें तो सिर्फ विश्वास के साथ अपने शरीर को "जीवित बलिदान" के रूप में "नंगी तलवार लिए पुरुष" के समक्ष सौंप देना है। अतः यहोशू ने भी प्रभु परमेश्वर को "दण्डवत्" किया और इसका परिणाम भी सुस्पष्ट है (यहोशू 5:13-15; 6:1-22)।

विश्वास

अब हम इस अध्याय से आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्तों पर ध्यान केन्द्रित करना शुरू करेंगे। इस संदर्भ में दूसरा पतरस की पुस्तक के तीसरे अध्याय के इन शब्दों का पुनः उल्लेख सहायक होगा : “हमारे उद्धारकर्ता प्रभु यीशु मसीह के अनुग्रह और ज्ञान में बढ़ते जाओ”। इन शब्दों से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि आत्मिक परिपक्वता एक विकासशील प्रक्रिया है। इसके विपरीत उद्धार-प्राप्ति एक महत्वपूर्ण घटना है। आज की कलीसियाओं में एक सामान्य समस्या यह है कि बहुत से चर्च जाने वाले मसीही अपने जीवन की समस्याओं के दबाव में संघर्ष एवं असंतोष के शिकार हैं - प्रभु की संगति एवं सेवकाई में संघर्षमय जीवन तथा एक-दूसरे के साथ संघर्षमय जीवन। ऐसे लोग प्रभु पर भरोसे का जीवन व्यतीत करते हुए खीष्ट के जीवन में उन्नति करने के बजाय अपनी शक्ति व युक्ति के सहारे मसीही मार्ग पर चलने की व्यर्थ कोशिश को अपनाते हैं जिसका नतीजा आध्यात्मिक पराजय एवं आत्मिक विकास में अवनति ही होता है। सच्चाई यह है कि हमारी रचना परमेश्वर की सामर्थ्य से जीवन जीने के लिए हुई है, न कि स्व-निर्मित शक्ति से (दू०प० 3:18; यशा० 28:9-13)।

इस पाठ में हम “विश्वास” के बारे में विचार करेंगे, जो संभवतः आत्मिक विकास प्रक्रिया का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। विश्वास के बिना प्रभु की संगति की चाहत अथवा प्रभु यीशु मसीह के अनुग्रह एवं ज्ञान में बढ़ने की चाहत व्यर्थ की बात है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मसीही जीवन विश्वास-आधारित जीवन है (इब्रा० 11:6; 10:38; रोमि० 14:23)।

आइए हम प्रकाशितवाक्य के दूसरे अध्याय में इफिसुस की मंडली को सम्बोधित संदेश पर ध्यान दें। यह एक अच्छी मंडली थी और इस मंडली में पौलुस काफी समय तक सेवकाई भी किया था। यह मंडली सेवा-परिश्रम कर रही थी, धैर्यपूर्वक जीवन बिता रही थी। दुष्टों से दूर रह रही थी, त्यागपूर्ण स्वभाव भी था। अर्थात् इफिसुस की मंडली बहुत से अच्छे कामों में लगी थी। परन्तु चौथे पद पर ध्यान दें। उन्होंने “अपना पहला-सा प्रेम छोड़ दिया” था। हाँ, पहला-सा प्रेम **छोड़ दिया** था, खोया नहीं था। यह पहला-सा प्रेम क्या है? प्रभु यीशु मसीह के पास आने के समय का बच्चों जैसा सीधा-सादा सा विश्वास। यद्यपि इफिसुस के विश्वासी (सन्तगण) तमाम नेक कामों में लगे थे, किन्तु वे प्रभु पर विश्वास-विश्राम के साथ उस पर आसरे-भरोसे का जीवन नहीं बिता रहे थे, अतः उनकी जीवन-शैली प्रभु के समक्ष संतोषप्रद नहीं थी। प्रभु उनकी मदद करता है जो सिर्फ उसी पर आसरा-भरोसा रख कर विश्वास के सहारे जीवन बिताते हैं। मसीही जीवन का मतलब यह नहीं कि विश्वासीजन को उत्पादन करना है, कार्य-सम्पादन करना है, अथवा प्रभु के लिए कुछ करके दिखाते रहना है। बल्कि यह तो प्रभु पर विश्वास रखते हुए उसके द्वारा सम्पन्न कार्य को अपनाना या ग्रहण करना है। आज के उत्पादन-केन्द्रित समाज में ऐसे विश्वास-केन्द्रित जीवन से जी चुराना सामान्य बात है क्योंकि संसार हमें बचपन से ही सफल जीवन के लिए स्व-प्रयास, कर्म-केन्द्रित या उत्पादन-केन्द्रित जीवन-शैली पर ही चलने की तालीम देता है। प्रायः हम यह सुनते हैं कि ‘ईश्वर उन्हीं की मदद करता है जो अपनी मदद स्वयं करते हैं’। बाइबल के अनुसार, यह कथन सत्य नहीं है। इसके बजाय सम्पूर्ण बाइबल इस सच्चाई की साक्षी है कि परमेश्वर उनकी मदद करता है जो उस पर पूर्ण आशा-भरोसा या विश्वास रख कर जीवन जीते हैं (कुलु0 2:6; रोमि0 5:2)।

यह कोई नयी समस्या नहीं है, बल्कि यह तो सदियों से चर्च एवं मसीहियत को कुप्रभावित किए हुए है। प्रायः लोग इस सच्चाई को भूल जाते हैं कि जिस सीधे-सादे एवं प्रारम्भिक विश्वास के द्वारा हमें उद्धार मिला, उसी बच्चों-जैसे सीधे-सादे विश्वास के द्वारा हमें अपने आध्यात्मिक जीवन में स्थिर रहना है, उसी विश्वास के सहारे चलते रहना है और उसी सीधे-सादे प्रारम्भिक विश्वास के द्वारा जीवन जीते रहना है। अक्सर हमारे आत्मिक विकास के मार्ग में पवित्र बाइबल तथा परमेश्वर के बारे में संदेह के बीज रूपी रुकावट के रोड़े फेंके जाते हैं (कभी-कभी तो हमारे शुभ-चिंतकों द्वारा भी)। इस संबन्ध में पवित्रशास्त्र के कुछेक उदाहरणों पर ध्यान दें। दाऊद, दानिएल, एलिय्याह, नहेम्याह और प्रभु यीशु के साथ कैसा व्यवहार हुआ? गोलियत ने दाऊद को यह कहकर ललकारा, "मैं तेरा मांस आकाश के पक्षियों और मैदान के वन-पशुओं को दूँगा"। परन्तु दाऊद ने उसे यह जवाब दिया : "मैं सेनाओं के यहोवा ... परमेश्वर के नाम से तेरे पास आया हूँ जिसको तूने ललकारा है"। शेष बातें आप पहला शमूएल के सत्रहवें अध्याय में पढ़ सकते हैं। गोलियत को यह भी नहीं पता चला कि दाऊद ने कितनी छोटी सी चीज से उसकी ईश्वर-विरोधी जीवन-लीला को खत्म कर दिया। इसी प्रकार नहेम्याह द्वारा बावन दिन में यरूशलेम की शहर-पनाह का पुनर्निर्माण करते समय, सम्बल्लत और तोबियाह ने उसका विरोध किया। अन्ततः किसकी हार हुई? बेशक, नहेम्याह की नहीं। इसके बाद एलिय्याह के उदाहरण के बारे में सोचिए जो सारे इस्राएल के देखते हुए बअल देवता के चार सौ पचास अनुयायियों के सामने अकेले खड़ा रहा। संभवतः बहुतेरे उसका मज़ाक उड़ा रहे थे। लेकिन अन्ततः किसका परमेश्वर सच्चा साबित हुआ? इसमें कोई शक नहीं कि सम्पूर्ण विवरण पढ़ने से स्पष्ट है कि

बअल सच्चा साबित नहीं हुआ। जरा दानिएल की उस दशा पर विचार कीजिए जिसे अपने परमेश्वर से प्रार्थना करने के कारण शेर की माँद में डाल दिया गया था। राजा के उस रोचक प्रश्न पर विचार करिए जो अगले सुबह उसने दानिएल को सम्बोधित करते हुए पूछा : "हे दानिएल, हे जीवित परमेश्वर के दास, क्या तेरा परमेश्वर जिसकी तू नित्य उपासना करता है, तुझे सिंहों से बचा सका है"? शायद इस सवाल को सुनने के बाद कुछ समय तक शान्त रह कर दानिएल ने राजा को अपना यह जवाब दिया : "उसने अपना दूत भेज कर सिंहों के मुहों को बन्द कर दिया"। आखिर में, क्रूस पर चढ़े प्रभु की निन्दा करते हुए चुनौती देने वालों की बात के बारे में मत्ती रचित सुसमाचार के सत्ताईसवें पद पर ध्यान दें। उसकी मृत्यु एवं पुनरुत्थान के पश्चात् अब परमेश्वर के दाहिने ओर कौन विराजमान है? बेशक उसका टट्टा करने वाले वह याजकगण या शास्त्री लोग नहीं (गला0 3:1-3; प0कुरि0 16:13; दू0कुरि0 5:7; गला0 2:20; भज0 3:1-2; प0शमू0 17; नहे0 4; प0रा0 18; दानि0 6; मत्ती 27:39-44)।

प्रभु परमेश्वर पर संदेह या अविश्वास करने का बीज बोना अदन की वाटिका से प्रारम्भ हुआ जब शैतान ने हव्वा के मन में उसके रचयिता के वचन पर संदेह करने का बीज बोया : "क्या परमेश्वर ने सचमुच कहा है"? शैतान ने सिर्फ अविश्वास रूपी बीज बोकर हव्वा के मन को विचलित कर दिया, और आज भी मसीहियों के मन में परमेश्वर पर अविश्वास करने का बीज बोता रहता है। हमें यह नहीं भूलना है कि प्रभु परमेश्वर उस पर हमारे विश्वास के अनुपात में हमारे जीवन में कार्य करता है। पवित्र शास्त्र के अनेक पदों में यह सच्चाई प्रदर्शित की गई है कि 'तुम्हारे विश्वास के

अनुसार तुम्हारे लिए हो जाए'। भावार्थ यह है कि हमारे जीवन में प्रभु परमेश्वर उस पर हमारे विश्वास के अनुपात में ही कार्य करता है। इस संदर्भ में धर्मशास्त्र के कुछेक लोगों के विश्वास के उदाहरण पर ध्यान देना सहायक होगा। यहाँ केवल दो व्यक्तियों के विश्वास-उदाहरण पर ध्यान दीजिए - यहोशू द्वारा सूर्य थम जाने की प्रार्थना और पतरस द्वारा पानी पर चलना। पहले का विश्वास स्थिर व महान था; जबकि दूसरे का प्रारम्भिक विश्वास ठीक रहा, किन्तु आगे चलने के बाद अविश्वास की ओर बहक गया (भज0 33:22; मत्ती 8:13; मत्ती 9:29; यहोशू 10:5-14; मत्ती 14:22-31)।

“हे यहोवा, तेरा वचन आकाश में सदा तक स्थिर रहता है”। ध्याने दें कि उसका वचन “सदा तक स्थिर” है - मैं इसे नहीं बदल सकता, आप इसे नहीं बदल सकते, शैतान नहीं बदल सकता और परमेश्वर भी इसे नहीं बदलेगा। उसका वचन तो “सदा तक स्थिर है”। पवित्रशास्त्र परमेश्वर के ज्ञान-बुद्धि की बातों से भरपूर है, उससे प्राप्त होने वाले प्रोत्साहन से भरपूर है, उसकी दया से भरपूर है, उसके प्रेम एवं अनुग्रह से भरपूर है, उसकी सामर्थ्य से भरपूर है, और यह सब स्वर्ग में 'सदा के लिए स्थिर है'। अतः इस पृथ्वी पर रहते हुए हम उसके वचन पर पूर्ण आशा-भरोसा कर सकते हैं (भजन0 119:89)।

समय

अब हम आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्त के प्रसंग में समय के महत्व पर विचार करेंगे। बहुत से लोग इस सच्चाई को स्वीकार करने में कठिनाई महसूस करते हैं कि प्रभु परमेश्वर हमारे आत्मिक विकास प्रक्रिया में हड़बड़ी नहीं करता। वह तो आदिकाल से अनन्तकाल तक अपना कार्य कर रहा है। आज के 'माइक्रोवेव, मोबाइल एवं झटपट' के आदी समाज में 'परमेश्वर के समय' की बात समझना कठिन लगता है। कम से कम समय देने का आदी आज का इंसान हर काम शार्टकट करना चाहता है, और इसीलिए बहुत से मसीही ईश्वरीय योजनानुसार आत्मिक विकास प्रक्रिया को भी शार्टकट करने की आजमाइश में पड़ने लगते हैं। बहरहाल, ईश्वरीय आध्यात्मिक विकास प्रक्रिया को शार्टकट बनाना सम्भव नहीं है (फिलि0 1:6)।

हमारी आध्यात्मिक विकास प्रक्रिया को स्वयं परमेश्वर संचालित व नियंत्रित करता है। आध्यात्मिक विकास सम्बन्धी दृष्टांत मरकुस के चौथे अध्याय में पाया जाता है। चूँकि मसीही जीवन का विकास एवं उसकी फलवन्तता आत्मिक विकास के सिद्धान्त पर आधारित है, इसलिए इसमें बहुत समय लगता है, और यदि हमारे जीवन में परमेश्वर के कार्य के सम्बन्ध में समय के महत्व को हम नहीं समझते, तो हमारे जीवन की आत्मिक विकास प्रक्रिया में हताशा एवं बाधा का आना अवश्यम्भावी है। समय के महत्व को नहीं समझने वालों के लिए आत्मिक विकास प्रक्रिया को शार्टकट करने की बड़ी आजमाइश रहती है। बहुत से मसीही दूसरे कुछ विश्वासियों के

अपेक्षाकृत कम समय में विकास को देखकर यह सोचने लगते हैं कि अब उन्हें यह प्रार्थना करना है कि परमेश्वर किसी आश्चर्यकर्म के द्वारा उन्हें आत्मिक परिपक्वता में पहुँचा दे। परन्तु परमेश्वर इस प्रकार कार्य नहीं करता। वह ऐसी प्रार्थना का जो जवाब देता है उसकी ओर निर्गमन तथा यशायाह नामक पुस्तकों में इशारा है (मर0 4:26-28; निर्ग0 23:29-30; यशा0 28:10)।

पहला तीमुथियुस की पत्री के तीसरे अध्याय के इन शब्दों पर विचार करें : "निःसन्देह भक्ति का भेद बड़ा गम्भीर है"। यह जानना-समझना बहुत महत्वपूर्ण है कि ईश्वर-परायणता यानि सच्ची ईश्वर-भक्ति एक भेद है। इसे मानव-बुद्धि से नहीं समझा जा सकता है। यह हमारे ज्ञान-बुद्धि से बाहर की बात है। इसे केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही समझा जा सकता है। इस बात के साथ यह सोचना-समझना भी महत्वपूर्ण है कि ईश्वर-भक्ति क्या है? किसी मनुष्य को कब एवं किस आधार पर ईश्वर-भक्त कहा जा सकता है? क्या तब जब वह ईश्वरीय बातों की या मसीह की नकल करने लगता है? नहीं, मनुष्य द्वारा ईश्वर की नकल करना ईश्वर-भक्ति नहीं है, अन्यथा इसमें कोई भेद की बात नहीं होगी। इसके विपरीत, बाइबलीय मायने में किसी व्यक्ति के जीवन में ईश्वरीय स्वभाव उत्पन्न करने वाला परमेश्वर का काम ईश्वर-भक्ति है। अर्थात् मनुष्य के जीवन में ईश्वरीय-स्वभाव का विकास, या यूँ कहें कि आश्चर्यजनक एवं रहस्यपूर्ण तौर पर विश्वासीजन का मसीह के स्वरूप में ढाला जाना, ईश्वर-भक्ति है। यही भक्ति का भेद है। दूसरा कुरिन्थियों के तीसरे अध्याय के अट्टारहवें पद के अनुसार यह परिवर्तन-कार्य पवित्र आत्मा ही करता है। जब हमें यह ज्ञान-प्रकाश मिल जाता है कि केवल परमेश्वर ही किसी व्यक्ति को परमेश्वर-भक्त बना सकता है, तब प्रभु परमेश्वर के हाथों में

स्वयं को सौंपने, उसी में बने रहने या उसी में विश्वास-विश्राम करने के अलावा हमारे पास अन्य कोई चारा नहीं रह जाता। यदि हम स्वयं को परमेश्वर के हाथों में सौंप कर अपने जीवन में इस परिवर्तन-कार्य के लिए उसी पर आशा-भरोसा एवं विश्वास-विश्राम रखते हुए ईश्वर-भक्ति के इस भेद में प्रवेश नहीं करते, तब हम अपनी शक्ति, युक्ति या स्व-प्रयास द्वारा भक्ति (का भेष धारण) करना चाहते हैं (अर्थात् अपने क्रिश्चियन समुदाय द्वारा लागू धर्म-नियमों एवं आचरण के तौर-तरीकों का अनुकरण करने के द्वारा) (प0तिमु0 3:16; दू0कुरि0 3:18; भज0 46:10; भज0 4:4-5; यूह0 15:5; रोमि0 12:1; यूह0 3:30)।

प्रभु परमेश्वर के समय की प्रतीक्षा नहीं करना कितना खतरनाक साबित हो सकता है, इसका एक खास उदाहरण मूसा के जीवन में दिखाई देता है। वह भी अपने उतावलेपन में आकर प्रभु के समय से पहले आगे बढ़ने लगा था। मूसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व प्रभु परमेश्वर अपने दास अब्राहम से यह वायदा कर चुका था कि समय पर वह एक छुटकारा देने वाला अगुवा खड़ा करेगा जो उसके लोगों को मिस्र के राजा फिरौन की गुलामी से छुड़ाएगा। बेशक, इस छुटकारे का समय आने ही वाला था। परमेश्वर के अनुग्रह से मूसा अपने जन्म के समय मृत्यु से बचाया जा चुका था। इतना ही नहीं राजा फिरौन की बेटी ने उसे लेपालक पुत्र बना लिया था और जिस राजा की आज्ञा से मूसा को शिशु काल में ही मार डाला जाना था, उसी राजा के महल में परमेश्वर के आश्चर्यकर्म द्वारा मूसा का शाही तौर से पालन-पोषण व शिक्षा-दीक्षा हो रही थी। उसे सुशिक्षित करके, प्रशासन, सैन्य-कार्य एवं राज-काज का प्रशिक्षण प्रदान किया गया था। चालीस वर्ष की आयु में वह ऐसा प्रशिक्षित हो चुका था कि किसी भी संसारिक समाज में अपना

कार्य-भार एवं दायित्व संभाल सकता था। मूसा की युवा अवस्था के बारे में परमेश्वर के वचन में यही सुन्दर एवं प्रभावशाली साक्षी पायी जाती है। परन्तु इस सच्चे विवरण से थोड़ा सा आगे बढ़ने पर मूसा के बारे में जो कुछ पढ़ने को मिलता है, वह इस प्रभावशाली जवान द्वारा की गई उस भयावह भूल को दर्शाता है जिसने उसकी सारी महत्वाकांक्षा को मटियामेट कर दिया, और उसे परमेश्वर एवं मनुष्य के लिए चालीस साल तक अनुपयोगी बना दिया। इस प्रकार मूसा उस व्यक्ति का एक उदाहरण है जो अपनी शक्ति, युक्ति एवं अपने समयानुसार परमेश्वर का काम करने चला था (प्रेरि0 7:17-22; निर्ग0 1:22-2:10-15)।

हम मसीही विश्वासीजन मूसा से बहुत फर्क नहीं हैं। हमें अपनी कार्य-सूची एवं समय-सारिणी चलाने के बजाय प्रभु परमेश्वर को परमेश्वर मान कर उसे अपना कार्य करते देखने की आस लगाना सीखना है। मूसा अपने आत्मिक सबक को जब तक नहीं सीखा था, तब तक अपनी ताकत और अपने समय के अनुसार काम करने की युक्ति अपनाया। नतीजा बिल्कुल साफ था - वह तो एक मिस्री को भी ठीक से दफन नहीं कर सका, संभवतः उस काम में भी कोई भूल करके आया था कि चुपचाप किया गया उसका यह कार्य लोगों पर प्रकट हो गया था। परन्तु लगभग चालीस वर्ष बाद, परमेश्वर का समय आने पर, प्रभु परमेश्वर ने स्वयं सेवा-कार्य-भार संभाला, और नतीजतन इज्राएलियों का पीछा कर रही सारी मिस्री सेना को लाल समुद्र में ही दफना दिया।

मूसा ने परमेश्वर के काम को मनुष्य के तरीके से करने का प्रयास किया; लेकिन उत्तम उद्देश्य या अच्छी मंशा के बावजूद, वह मिशनरी के बजाय एक हत्यारा ही बना। नतीजतन अगले चालीस वर्ष वह मरुभूमि में छिपा रहा, जहाँ परमेश्वर ने उसके जीवन में

अपना महत्वपूर्ण कार्य करके उसे परिपक्वता की ओर विकसित किया। हमारी क्या हालत है? क्या हम परमेश्वर के लिए प्रतीक्षा करने को तैयार रहते हैं, या ईश्वरीय समय में देरी से निराश व बेचैन होकर लगाम अपने हाथ में लेकर अपनी युक्ति व शक्ति के सहारे उतावली में आगे बढ़ने लगते हैं? प्रभु परमेश्वर इसी से प्रसन्न होता है कि उसका विश्वासी बालक-समान उसी पर आशा-भरोसा रखते हुए उसके समय की बाट जोहता रहे। हमारे जीवन की महत्वपूर्ण आशीषें एवं विकास प्रभु पर आशा-भरोसा के साथ उसकी बाट जोहते समय प्राप्त होते हैं। सच्ची आत्मिक परिपक्वता में हमारे विकास का दायित्व पवित्र आत्मा के हाथ में है। यह हमारे प्रयास या हमारी योग्यता पर आधारित नहीं है, बल्कि यह तो परमेश्वर के आत्मा पर निर्भर है, जो पूर्णतः विश्वसनीय है। क्या हम परमेश्वर पर आशा-भरोसा रखने को तैयार हैं, जो अपना सारा कार्य अपने समय पर अवश्य पूरा करता है? (भज0 27:13,14; भज0 62:1,2,5; भज0 123:1,2; यशा0 30:18; यशा0 40:31; व्यव0 8:16; प0पत0 5:10; यशा0 50:10-11; यूह0 16:13-14)।

आध्यात्मिक उन्नति एक धीमी प्रक्रिया है, कभी-कभी कष्टदायी भी। किसी वृक्ष पर फलने वाला फल धीरे-धीरे पकता है। इसके लिए धूप और हवा दोनों की ज़रूरत पड़ती है। इसी प्रकार परमेश्वर द्वारा संचालित आध्यात्मिक विकास प्रक्रिया में कष्ट एवं आनन्द, पीड़ा एवं प्रसन्नता, असफलता एवं सफलता, निष्क्रियता एवं सेवा-सक्रियता तथा मृत्यु एवं जीवन जैसे विभिन्न प्रकार के अनुभव शामिल होते हैं। आत्मिक विकास धीमी प्रक्रिया है। जितनी ही बड़ी या बारीक संरचना होगी उतनी ही लम्बी प्रक्रिया। किसी साखू-शीशम के पेड़ को तैयार होने में कई वर्ष लग जाते हैं, जबकि लौकी-कद्दू जैसे पौधों के लिए कुछ ही माह लगते हैं। मगर हम

धीरज की कमी वाले एक समाज में रहते हैं जहाँ लोगों में फास्ट रिजल्ट की चाहत भरी है। यहाँ तक कि मसीही साहित्य जगत की कई किताबें झटपट या तात्कालिक आत्मिक परिपक्वता प्रदान करने का दावा करती हैं। लेकिन यह परमेश्वर का तरीका नहीं है। परमेश्वर की दृष्टि में कम या ज्यादा समय महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि खास बात यह है कि वह आवश्यक समय लगाएगा। सुप्रसिद्ध मसीही विश्वासियों के जीवन के बारे में विचार करने पर हम यह पायेंगे कि प्रभु परमेश्वर द्वारा परिपक्वता में लाए जाने तथा उसके द्वारा इस्तेमाल किए जाने से पूर्व उनके जीवन को तैयार करने में कम समय नहीं लगा (दू0पत0 3:8)।

स्वीकार्यता

आध्यात्मिक विकास का तीसरा सिद्धान्त 'स्वीकार्यता' है। प्रत्येक मसीही विश्वासी के लिए दो प्रमुख प्रश्नों के बारे में सुनिश्चित हो जाना अत्यन्त जरूरी है। पहला, क्या परमेश्वर ने मुझे पूर्णतः स्वीकार कर लिया है? दूसरा, यदि यह सच है, तो किस आधार पर? संभवतः हममें से अनेक लोगों का पालन-पोषण नियम-बन्धन के वातावरण में हुआ है। अर्थात् कुछ खास नियमों या रीति-विधियों का पालन करके लोगों के समक्ष स्वीकार्य होना। उदाहरण के लिए, यदि हम अपने माता-पिता, शिक्षकों एवं बड़ों का कहना मानते हैं और उनके प्रति आदर-मान का व्यवहार करते हैं, तो लोगों की नजर में अच्छे माने जाते हैं। संभवतः हममें से अनेक लोगों का ऐसे ही नियम-बन्धन के वातावरण में पालन-पोषण हुआ, ऐसे ही स्कूल में शिक्षा मिली और आगे चलकर ऐसे ही नियम-बन्धन के वातावरण में नौकरी करनी पड़ती है। अब एक खास सवाल यह है कि इस प्रकार के जीवन में आगे चलकर जब हमने परमेश्वर के अनुग्रह से उद्धार का स्वाद चखा तो अब हममें से कितने लोग स्वयं को फिर नियम-बंधन या व्यवस्था के अधीन करके स्व-प्रयास द्वारा धार्मिक बन कर परमेश्वर के समक्ष ग्रहणयोग्य होने की कोशिश में लगे हैं? (इफि0 1:3-6; गला0 3:1-3)।

स्मरण रहे कि या तो हम व्यवस्था के अधीन रह सकते हैं या फिर अनुग्रह के। दोनों की मिलावट करना मसीही लोगों की एक सामान्य गलती है। रोमियों की पत्री के छठवें अध्याय के अनुसार अब हम "व्यवस्था के अधीन नहीं, बल्कि अनुग्रह के अधीन" हैं।

लुईस स्पेयरी शेफर के अनुसार, जो "शत प्रतिशत अनुग्रह नहीं है, वह व्यवस्था है"। पवित्र बाइबल व्यवस्था और अनुग्रह की मिलावट का समर्थन नहीं करती। तो क्या प्रभु परमेश्वर ने हमें ग्रहण कर लिया? यदि हाँ, तो किस आधार पर? जवाब बिल्कुल साफ है, अर्थात् अनुग्रह के आधार पर। वह ईश्वरीय अनुग्रह जिसके हम लायक नहीं थे, और जिसे पाने के लिए हमने न तो कुछ किया है और न ही कुछ दिया है। यह ईश्वरीय अनुग्रह अर्जित नहीं है। आज के परिश्रम, उत्पादन, विज्ञापन एवं परिणाम केन्द्रित समाज में यह सोचना आसान है कि हमारा परिश्रम, प्रयास एवं सेवा-कार्य हमें परमेश्वर के समक्ष ग्रहणयोग्य बनाता है। प्राचीनकाल के गलातिया क्षेत्र की कलीसियाओं की तरह हम भी ईश्वरीय अनुग्रह को पहचान कर प्रभु के पास आए और मसीही जीवन का प्रारम्भ हुआ, किन्तु उद्धार के बाद हम यह सोचने लगते हैं कि अब मसीही जीवन व्यतीत करना और परमेश्वर की विश्वासयोग्य सेवा करना हमारा (कर्म) दायित्व है और इससे प्रभु परमेश्वर हमें स्वीकार करेगा। परन्तु प्रेरितों के काम की पुस्तक के पन्द्रहवें अध्याय में शुरुआती कलीसिया ने इस विवाद का स्पष्ट फैसला कर दिया था। अर्थात् ख्रीस्त के विश्वासियों पर व्यवस्था रूपी असहनीय बोझ लादना परमेश्वर की परीक्षा करने और उसका कोप भड़काने जैसा है। हाँ, यह व्यवस्था रूपी बोझ असहनीय बोझ है। इसके विपरीत मत्ती रचित सुसमाचार के ग्यारहवें अध्याय में प्रभु यीशु ने अनुग्रह के अधीन विश्वासपूर्वक जीने की शिक्षा दी है; जहाँ उसके जुए को **सहज** तथा उसके बोझ को **हल्का** बताया गया है। इस सम्बन्ध में पवित्रशास्त्र की शिक्षा बिल्कुल स्पष्ट है। मसीहियों को व्यवस्था-बंधन रूपी जुए (गुलामी) में नहीं जुतना है। लेकिन बहुत से मसीही अपनी अज्ञानता अथवा अन्य कारण से ईश्वरीय अनुग्रह के बजाय

स्व-प्रयास द्वारा स्वीकार्यता कमाने में लगे रहते हैं। बहुत से विश्वासी उत्पादन द्वारा स्वयं को परमेश्वर के समक्ष स्वीकार्य बनाने में लगे रहते हैं। उनके लिए सेवकाई ही ईश्वरीय अनुग्रह को पाने हेतु कमाई बन जाती है। जब तक सेवकाई ठीक-ठाक चलती है, तब तक उन्हें ऐसा महसूस होता है कि परमेश्वर उन्हें स्वीकार किए हैं अर्थात् उनसे खुश है। परन्तु गलातियों की पुस्तक के चौथे अध्याय में विश्वासी जन को सेवक या दास नहीं; बल्कि "पुत्र" कहा गया है (रोमि0 6:14; 11:6; गला0 3:1-3; प्रेरित0 15:1-10; मत्ती 11:28-30; गला0 5:1,7; गला0 4:7)।

विश्वासीजन को यह नहीं भूलना चाहिए कि परमेश्वर के समक्ष हमारी स्वीकार्यता हमारी प्रस्थापना (position) पर आधारित है, न कि हमारे परिश्रम (उत्पादन) पर। दक्षिण-पूर्व एशिया में कार्यरत एक मिशनरी ने कुछ वर्ष पूर्व अपने पत्र में यह बात लिखी : "परमेश्वर इन दिनों मेरे मन में यह सच्चाई दर्शा व सिखा रहा है कि मुझे निरन्तर पवित्र आत्मा पर निर्भर रहने की आवश्यकता है। हमारे यहाँ इस गाँव में जो छोटी सी मण्डली शुरू हुई है, उसके बारे में तथा उसमें उभरते अगुवों को शिक्षा-प्रशिक्षण देकर तैयार करने के बारे में मैं अक्सर सोचता रहता हूँ। इस क्षेत्र में अपने मिशन के सेवा-कार्य पर जब मैं नजर डालता हूँ तो केवल एक ही जगह के काम में अच्छे अगुवे तैयार किये गये हैं, शेष स्थानों पर सुयोग्य आत्मिक अगुवों की कमी पायी जाती है"। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि बहुत से मिशन-क्षेत्रों में यही कमी पायी जाती है। अर्थात् स्थानीय कलीसियाओं में सुयोग्य एवं ठोस आत्मिक अगुवों का अभाव। इसका पहला प्रमुख कारण ईश्वरीय अनुग्रह के बारे में शिक्षा का अभाव है। हाँ, उद्धार के बारे में अनुग्रह की शिक्षा दी जाती है, किन्तु पवित्रीकरण (sanctification) के बारे में नहीं।

यह बहुत आवश्यक है कि विश्वासियों को यह शिक्षा दी जाए कि वे "पुत्र" हैं, "दास" नहीं, अतः परमेश्वर के समक्ष उनकी स्वीकार्यता उनकी प्रस्थापना (पद-स्थान या position) पर आधारित है, कार्य-फल, प्रदर्शन या उत्पादन पर नहीं।

रोमियों की पत्री के आठवें अध्याय के सत्रहवें पद के अनुसार विश्वासीजन "मसीह के सह-उत्तराधिकारी" हैं। जो कुछ मसीह का है और मसीह जो कुछ है, वह सब उद्धार-प्राप्ति के समय विश्वासी के लिए उपलब्ध हो जाता है। चूँकि मसीह को सदा-सर्वदा के लिए पिता परमेश्वर ने ग्रहण कर लिया है, अतएव उसके विश्वासी भी "मसीह में" पिता परमेश्वर के समक्ष सदा काल के लिए स्वीकार कर लिए गये हैं। मसीही जन का और कुछ या और कोई काम उसे परमेश्वर के समक्ष ज्यादा ग्रहणयोग्य नहीं बना सकता। हमारे "शरीर (शारीरिकता) में कुछ भी भला वास नहीं करता"। जब हम इस सच्चाई को समझने लगते हैं तब हम मसीह में अपनी प्रस्थापना (पोजीशन) एवं स्वीकार्यता को जान-समझ कर विश्वास-विश्राम करना सीखते हैं। अतः स्वयं को ग्रहण करने योग्य बनाने की चाल से हमें बाज आना है, और "मसीह में" परमेश्वर द्वारा अपनी स्वीकार्यता पर विश्वास व भरोसा करना सीखना है। परमेश्वर की ओर से हम अयोग्य लोगों को यह सुअवसर एवं अधिकार प्राप्त हुआ है कि विश्वास द्वारा उसके प्रेम को अंगीकार करें। पवित्रशास्त्र में इस सच्चाई का बारम्बार उदाहरण देखने को मिलता है कि पूर्णतः अयोग्य लोग केवल परमेश्वर के अनुग्रह मात्र से उसके द्वारा ग्रहण किए गए और उसने उन्हें अपनी महिमा के लिए इस्तेमाल किया। पौलुस प्रेरित का जीवन भी इस सच्चाई का एक खास उदाहरण है। पौलुस के जीवन में ऐसी कोई बात नहीं थी कि परमेश्वर उसे ग्रहण करता, परन्तु वह परमेश्वर का एक चुना हुआ पात्र बना (रोमि0

8:17; 7:18; यूह0 6:63; फिलि0 3:3; प्रेरि0 7:54-60; प्रेरि0 8:1; प्रेरि0 9:1-15; प्रेरि0 22:4; प0कुरि0 15:9-10)।

प्रभु परमेश्वर ने हमें जिस आधार पर स्वीकार (ग्रहण) कर लिया है, उसी आधार पर हमें भी स्वयं को ग्रहण किया हुआ जानना-मानना चाहिए। हमारे ग्रहण किये जाने का दूसरा कोई आधार एवं उपाय नहीं है। हम सिर्फ उसके “प्रिय पुत्र में ही” ग्रहण किए गए हैं। हमारा स्वर्गिक पिता परमेश्वर हमारे बदले में मसीह यीशु से पूर्णरूपेण संतुष्ट है। तो फिर हमारे असंतुष्ट होने का सवाल ही नहीं है। अपनी अयोग्यता के बावजूद, इस सत्य पर विश्वास करना और स्वयं को उसका प्रेम-पात्र होने देना ही, हमारे आत्मिक जीवन विकास की प्रमुख कुंजी है। प्रभु के एक विश्वासी माइल्स स्टेन्फोर्ड ने यह कहा है, “स्वयं से निराश होने का मतलब यह हुआ कि आपने स्वयं अपने आप (अहं) पर ही भरोसा किया था”। परन्तु भजनकार भजनसंहिता के बासठवें अध्याय में लिखता है : “मेरी आशा उसी (परमेश्वर) से है”। हाँ, ध्यान दीजिए, हमारी आशा केवल उसी में है। हम जैसे-जैसे प्रभु यीशु मसीह के “अनुग्रह और ज्ञान में बढ़ते” जाते हैं, वैसे-वैसे परमेश्वर से ज्यादा और अपने आप से कम आशा रखना सीखते हैं (भज0 62:5)।

उद्देश्य

बहुत से विश्वासी अपने जीवन के ईश्वरीय उद्देश्य के बारे में भ्रमित प्रतीत होते हैं। प्रभु क्या चाहता है, मैं शादी कर लूँ या अविवाहित रहूँ? क्या प्रभु मुझसे मिशनरी या सुसमाचार सेवा लेना चाहता है? कभी-कभी संडे सर्विस का संदेश या कान्फरेन्स व कन्वेन्शन के वक्ता का संदेश इस भ्रम को और माया जाल जैसा कर देता है। इसके कुछेक उदाहरण पर ध्यान दीजिए - परमेश्वर की स्तुति-प्रशंसा के विषय में उपदेश सुन कर कुछ लोग यह मान बैठते हैं कि उनके जीवन हेतु परमेश्वर का उद्देश्य यह है कि वे सिर्फ उसकी स्तुति-प्रशंसा में ही लगे रहें। अन्य कुछ लोग सुसमाचार-प्रचार के बारे में कोई जोशीला संदेश सुनकर यह सोच बैठते हैं कि उनके जीवन के लिए परमेश्वर का उद्देश्य यह है कि वे सुसमाचार-प्रचार सेवा में लग जाएं। अन्य कुछ लोग सिर्फ 'सेवा-कार्य' के नाम से यह सोचते हैं कि हम परमेश्वर की सेवा में लगे रहें, यही उसकी इच्छा है। लेकिन परमेश्वर का धन्यवाद हो कि उसने अपने वचन में अपने लोगों के जीवन के लिए अपने उद्देश्य को प्रकट कर दिया है। रोमियों की पत्री के आठवें अध्याय में प्रभु परमेश्वर ने हमारे लिए अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है, और उसका यह उद्देश्य हममें से प्रत्येक विश्वासी के लिए है। रोमियों की पत्री के आठवें अध्याय का अट्ठाईसवां और उन्तीसवां पद विशेष महत्व रखता है। इन पदों में व्यक्त सच्चाई को जानना और अपनाना तथा इन पर विश्वास-विश्राम करना आध्यात्मिक विकास प्रक्रिया का एक प्रमुख अंग है। प्रत्येक विश्वासी को मसीह के स्वभाव में ढालना ही परमेश्वर का प्रमुख उद्देश्य है (रोमि0 8; गला0 4:19)।

मनुष्य के लिए प्रभु परमेश्वर के मौलिक उद्देश्य को समझने के लिए सृष्टि के प्रारम्भ की ओर ध्यान देना होगा। उत्पत्ति की पुस्तक के पहले अध्याय के छबीसवें पद के अनुसार : “परमेश्वर ने कहा, हम मनुष्य को अपने स्वरूप में, अपनी समानता के अनुसार बनाएं”। अतः मानव जाति का पहला मनुष्य, आदम परमेश्वर के स्वरूप में रचा गया। अब सवाल यह है कि वह “स्वरूप” क्या था? सबसे आसान उत्तर यही होगा कि ‘भौतिक या शारीरिक समानता’। बहरहाल, यूहन्ना के सुसमाचार के चौथे अध्याय के अनुसार “परमेश्वर आत्मा है”, और आत्माओं के शरीर नहीं होते। अतः परमेश्वर के स्वरूप का अर्थ कुछ और है। हमारे प्राण में हमारा मस्तिष्क (मन), हमारी इच्छा और हमारा मनोवेग (भावना) शामिल है। जरा इस बात पर विचार कीजिए कि हममें परमेश्वर के समान मन-मस्तिष्क है। यद्यपि परमेश्वर की तरह सब कुछ हम नहीं जानते तथापि हममें उसकी तरह मस्तिष्क होने के कारण वह हमें सिखा सकता है। यही बात हमारे बच्चों पर भी लागू होती है। यद्यपि हमारे बच्चे वह सब नहीं जानते-समझते जो हम जानते-समझते हैं, किन्तु हम उन्हें सिखा सकते हैं क्योंकि उनके पास हमारी तरह मन-मस्तिष्क है। परमेश्वर की भाँति हमारे पास भी इच्छा पायी जाती है और परमेश्वर की भाँति हम भी निर्णय ले सकते हैं, जैसे वह निर्णय लेता है। इसके अतिरिक्त परमेश्वर की तरह हममें भी मनोवेग (emotion) पाया जाता है। पवित्रशास्त्र परमेश्वर के आनन्दित होने, प्रेम करने, दुखित होने एवं क्रोधित होने की बात करता है जो कि हम मनुष्यों जैसे मनोवेग या इमोशन्स को दर्शाता है (उत्प० 1:26-27; यूह० 4:24)।

आदम के पाप में पतन के समय मनुष्य का प्राण परमेश्वर-केन्द्रित के बजाय अहं-केन्द्रित हो गया। इस प्रकार मनुष्य

परमेश्वर पर आश्रित रहने के बजाय स्व-तंत्र या स्व-अवलम्बी हो गया। इसके फलस्वरूप आदम से एक पापी, ईश्वरविहीन, स्वार्थ-केन्द्रित अर्थात् पापों व अपराधों में आत्मिक तौर से मृतक मानव जाति पैदा हुयी। हममें से प्रत्येक जन इसी दशा में संसार में उत्पन्न होता है, आध्यात्मिक तौर पर मृतक। परन्तु हजारों वर्ष बाद परमेश्वर का वास्तविक स्वरूप इस धरती पर अवतरित हुआ। प्रभु यीशु मसीह अदृश्य परमेश्वर का सच्चा स्वरूप है (उत्प0 5:3; इफि0 2:1; इब्रा0 1:1-3; कुलु0 1:14-15)।

व्यवहारिक जीवन में परमेश्वर का स्वरूप अर्थात् उसका स्वभाव कैसा दिखता है? इसका क्या स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है? इस स्वभाव को पाने वालों का जीवन कैसा दिखता है? प्रभु परमेश्वर यानि मसीह का स्वरूप मृत्यु का स्वरूप है, अहं की मृत्यु। थोड़ी देर के लिए एक सिद्ध मसीही के जीवन-आचरण की कल्पना कीजिए। वह कैसा दिखना चाहिए? वह धैर्यवान होता है, दयालु होता है, ईर्ष्या नहीं करता, अभद्र व्यवहार नहीं करता, डींग नहीं मारता, अहंकार नहीं करता, झुंझलाता नहीं, सब बातों को सहता है, सब बातों की आशा रखता है। किसी अयोग्य (खराब) व्यक्ति के साथ धैर्य रखने के लिए क्या चाहिए? अपने अहंकार की मृत्यु। जो हमारी दयालुता के लायक नहीं, उसके प्रति दयालु होने के लिए क्या चाहिए? अपने अहं की मृत्यु। पौलुस ने कुरिन्थियुस के विश्वासियों को लिखा : "तुम हमारे मनो में ऐसे बस गए हो कि हम तुम्हारे साथ मरने और जीने को तैयार हैं"। वैसे तो मरने और जीने का क्रम असामान्य लगता है क्योंकि दुनिया तो पहले जीना चाहती है, फिर मरना। लेकिन सच्चे आध्यात्मिक जीवन विकास के लिए पहले "मृत्यु" का अनुभव अनिवार्य है। यह "मृत्यु एवं पुनरुत्थान का

सिद्धान्त" है, जो सिर्फ क्रूस के द्वारा ही सम्भव है (फिलि0 3:10; फिलि0 2:5-8; लूका 9:23; यूह0 12:24; प0कुरि0 15:36; दू0कुरि0 7:3; रोमि0 6:6; गला0 2:20)।

प्रभु यीशु के उदाहरण पर विचार कीजिए। एक मायने में यह कहा जा सकता है कि उसके जीवन से लगभग न के बराबर फल पैदा हुआ। बेशक, उसने कुछ लोगों को चंगा किया; हाँ, हजारों को भोजन प्रदान किया। लेकिन वास्तव में उसकी मृत्यु से ही हमें अनन्त जीवन प्राप्त होता है। अतः जो लोग मसीह की समानता में विकसित होना चाहते हैं; या जो लोग ख्रीष्ट के फलदायी शिष्य होना चाहते हैं, उनके लिए मरना अर्थात् उनके अहं का मरना जरूरी है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अपने जीवन के लिए परमेश्वर के उद्देश्य को जानना एक बात है और इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ईश्वरीय प्रक्रिया को पहचानना दूसरी बात है। विश्वासी को मसीह के स्वभाव में ढालने का एक सबसे प्रभावकारी ईश्वरीय साधन मनुष्य की असफलता है। प्रायः हमारी दृष्टि को अहंकार से हटाकर मसीह की ओर ले जाने हेतु प्रभु परमेश्वर हमारे जीवन में असफलता को आने देता है। "मसीह में" असफलता नहीं है। इस प्रकार हमें अपने जीवन के लिए ईश्वरीय उद्देश्य को नहीं भूलना है, अर्थात् विश्वासी को मसीह के स्वभाव में ढालना। यह कैसे सम्भव है? "प्रभु अर्थात् आत्मा के द्वारा उसी तेजस्वी रूप में अंश-अंश कर के बदलते जाते हैं" (दू0कुरि0 3:18)।

हम जिस पर ध्यान लगाते हैं, उसी के अनुरूप बदलते जाते हैं। यदि हम वर्तमान बुरे संसार की ओर मन लगाएंगे तो संसारिकता में बढ़ते जाएंगे। यदि हम स्वार्थ या अहंकार को खुश करने में लगे रहेंगे तो स्वार्थी एवं स्व-केन्द्रित होने में बढ़ते जाएंगे। प्रभु यीशु की

ओर दृष्टि लगाए रहने पर हम उसके स्वभाव में बढ़ेंगे। जब हम पवित्र वचन के द्वारा प्रभु यीशु की ओर ही ताकते रहेंगे, तब शांतिपूर्वक एवं प्रयास-विहीन तौर पर पवित्र आत्मा हमारे जीवन के स्रोत एवं केन्द्र-बिन्दु को अहं से मसीह की ओर बदलता जाएगा।

तैयारी

पिछले पाठ में हमने विश्वासी जीवन के लिए ईश्वरीय उद्देश्य-योजना पर विचार किया। वह हमें ख्रीष्ट के स्वभाव में ढालना चाहता है, और उसका यह काम पवित्र आत्मा द्वारा शनैः शनैः हममें सम्पन्न होता है। जिस पर हम ध्यान लगाएंगे उसी के स्वरूप में बदलते जाएंगे। ख्रीष्ट की ओर ताकते रहने से प्रभु का आत्मा हमें ख्रीष्ट के स्वभाव में बदलता जाता है। परन्तु इस मार्ग में एक खास समस्या भी है - हम अपने आप, मसीह की ओर ताकते रहने से जी चुराते हैं, नतीजतन मसीह के स्वरूप में ढलना दूर की बात रह जाती है। हकीकत यह है कि ईश्वरीय हस्तक्षेप बगैर हम स्वयं मसीह पर मन लगाए रहने में स्थिर नहीं रहते। इसीलिए ईश्वरीय हस्तक्षेप द्वारा हमारे जीवन में उसका काम होना जरूरी हो जाता है; अर्थात् उसके द्वारा घटनाओं, परिस्थितियों एवं अन्य चीजों का हमारे जीवन में ऐसा संयोजन करना (ताना-बाना बुनना) कि हमारा ध्यान अहं की ओर से मसीह की ओर जाए। और अक्सर प्रभु परमेश्वर कठिन परिस्थितियों द्वारा ऐसा होने देता है।

हमारे आत्मिक विकास हेतु अर्थात् मसीह के स्वभाव में हमें ढालने हेतु प्रभु परमेश्वर एक प्रमुख साधन के रूप में हमारी आवश्यकताओं को इस्तेमाल करता है। आवश्यकता बगैर हम अपने आध्यात्मिक मसीही जीवन में कहीं के नहीं होंगे। आत्मिक भूख-प्यास बगैर हम प्रभु यीशु मसीह से अपना आध्यात्मिक भोजन ग्रहण करना नहीं सीखते; और हमारी परीक्षाओं, दुख-दर्द एवं बीमारियों जैसी आवश्यकताओं के द्वारा ही हमारी आत्मिक भूख-प्यास निर्मित होती है।

कई बार भूख-प्यास पैदा हुए बगैर लोगों में हम जबरन आत्मिक विकास विकसित करना चाहते हैं, किन्तु ऐसा प्रयास निरर्थक होता है। प्रायः निर्माण से पहले (पुराने खंडहर को) दहाना यानि तैयारी जरूरी होती है। यह ज्ञान मिलना लाभकारी होता है कि परमेश्वर उन्हीं को अपनी भेड़ों की रखवाली (सेवा) के लिए बुलाता है जिन्हें वह (उनके स्व-प्रयास रूपी) असफलता की गहराईयों का आलिंगन करा चुका है। “प्रभु की भेड़ों की रखवाली” करने का दायित्व (बुलाहट) पतरस को उसके इस स्वावलम्बी एवं अहंकारपूर्ण कथन के समय नहीं मिला था : “मैं तो तेरे लिए अपना प्राण भी दे दूंगा”। उसे यह बुलाहट एवं दायित्व तब मिला जब वह अपने उपर्युक्त वचन को पूरा करने में पूर्णतः असफल साबित हुआ और यरूशलेम की गलियों में फूट-फूट कर रो लिया। प्रभु परमेश्वर बुद्धिमानों, बलवानों या कुलीनों को नहीं बल्कि वह तो अयोग्य एवं दुर्बलों को इस्तेमाल करता है (भज0 63:1; फिलि0 3:10; प0पत0 5:10; मत्ती 5:6; भज0 94:12; होशे 5:15; होशे 6:1; अय्यूब 5:17-18; यूह0 13:37-38; लूका 22:54-62; यूह0 21:15-17; यूह0 13:37; प0कुरि0 1:26-28)।

कई साल पहले की सच्ची कहानी है कि किसी बाइबल कालेज के एक प्रभु-भक्त प्रोफेसर के आफिस में एक छात्र आया और बातचीत आरम्भ करते हुए उसने कहा कि प्रोफेसर साहब, मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में 'एक दिन ऐसा आएगा जबकि मैं भी आपके समान हूँगा'। उस बुजुर्ग एवं ईश्वर-भक्त प्रोफेसर ने कहा, “आओ हम प्रार्थना करें”। तब उस प्रोफेसर ने अपनी प्रार्थना कुछ इस प्रकार शुरू की : “हे प्रभु मेरी प्रार्थना है कि इस जवान की जिन्दगी बड़ी कठिनाईपूर्ण जिन्दगी हो। मैं प्रार्थना करता हूँ कि मोटर गाड़ी से दुर्घटना में उसे गम्भीर चोट लगे। मेरी प्रार्थना है कि

उसके वैवाहिक जीवन में समस्याएं हों। मेरी यह भी प्रार्थना है कि जब वह नौकरी करने लगे तो उसकी नौकरी भी खत्म हो जाए”। थोड़ी ही देर बाद उस जवान ने प्रोफेसर साहब को प्रार्थना करने से रोकते हुए कहा, “जरा रुकिए, रुकिए! आप मेरे लिए क्यों ऐसी प्रार्थनाएं कर रहे हैं?” तब उस बाइबल शिक्षक ने कहा, “मैंने तो सोचा कि तुम मेरी तरह बनना चाहते थे”। उस जवान ने कहा, “जरूर”। तब प्रोफेसर ने कहा, “जिंदगी के इस मुकाम तक मैं कैसे पहुँचा, क्या तुम यह नहीं (जानना) चाहते”? (याकूब 1:2-4; रोमि0 5:3-4)।

एम0जे0 स्टैन्फोर्ड नामक विद्वान के अनुसार, “यदि हमारे जीवन को खीप्त-केन्द्रित, हमारे कार्य-व्यवहार को पवित्र आत्मा-नियंत्रित और हमारी सेवकाई को परमेश्वर की महिमार्थ होना है, तो देर-सबेर प्रभु परमेश्वर हमारे जीवन में असफलता के द्वारा आवश्यकताओं को पैदा करेगा। क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वासीजन को मसीह के स्वभाव में ढालने का सबसे प्रभावकारी ईश्वरीय साधन असफलता ही है। परन्तु हममें से अधिकतर लोग असफलता से दूर भागने का भरसक प्रयास करते रहते हैं, और इस प्रकार मसीह के स्वरूप में ढालने हेतु परमेश्वर के हाथ में सबसे प्रमुख साधन का निरन्तर विरोध करते हैं। पौलुस प्रेरित के जीवन पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि उसके जीवन में भी अनेक विफलताओं व असफलताओं के द्वारा आवश्यकताओं का निर्माण हुआ। अर्थात् उसके जीवन में भी प्रभु परमेश्वर ने इसी प्रकार अपना कार्य-उद्देश्य कार्यान्वित किया। जरा प्रभु यीशु के जीवन पर ध्यान दीजिए। उसके बारे में कुछ शब्दों को पढ़ कर शायद आप आश्चर्य में पड़ जाएं। तो हमारे बारे में क्या कहना? पवित्रशास्त्र से इब्रानियों की पत्री के बारहवें अध्याय के उन कुछ खास पदों पर मनन कीजिए जिनमें

ताड़ना विषयक बात लिखी गयी है। ग्यारहवें पद पर विशेष ध्यान दीजिए। प्रभु की ताड़ना का प्रमुख उद्देश्य धार्मिकता का शांतिदायक फल पैदा करना है, किन्तु यह केवल उन्हीं के लिए जो इसके द्वारा प्रशिक्षित हो चुके हैं (दू०कुरि० 12:7-10; दू०कुरि० 11:24-30; प्रेरि० 14:19-22; प्रेरि० 16:22-25; इब्रा० 2:10; इब्रा० 5:8; इब्रा० 12:5-11; व्यव० 8:16; भज० 66:10-12)।

दूसरा शमूएल की पुस्तक के सोलहवें अध्याय में एक रोचक कहानी पायी जाती है - राजा दाऊद और शिमी। यह उस समय की घटना है जब राजा दाऊद अपने विद्रोही पुत्र अबशालोम से जान बचा कर भागने में लगा था। उस समय उसे एक अन्य विद्रोही की बात को भी सुनना पड़ा। उस नगण्य चरित्र का नाम था - शिमी। ऐसा लगता है कि प्रभु परमेश्वर इस नगण्य व्यक्ति को इस्तेमाल करते हुए दाऊद के जीवन में आध्यात्मिक व आंतरिक परिवर्तन ला रहा था, यानि ईश्वरीय स्वभाव में ढाल रहा था। दाऊद के अहंकार मरण की ओर तथा प्रभु पर उसके भरोसे पर ध्यान दीजिए (दू०शमू० 16:5-14)।

उसी में परिपूर्ण

पवित्रशास्त्र बाइबल में कुलुस्सियों की पत्री के दूसरे अध्याय के इस वाक्यांश पर ध्यान दें : "तुम उसी में परिपूर्ण किए गये हो"। हमारे लिए भली-भाँति यह जान-समझ लेना बहुत महत्वपूर्ण है कि "मसीह में" हम परिपूर्ण किए गये हैं। हाँ, इससे पहले यह जानना-समझना भी महत्वपूर्ण है कि प्रथम 'आदम में' भी हम परिपूर्ण हैं, यानि आदम के स्वभाव-स्वरूप से भरपूर। पवित्रशास्त्र अनेक बार भौतिक उदाहरण द्वारा आत्मिक सच्चाई को स्पष्ट करता है। प्रथम आदम के स्वभाव में होने की बात को और अच्छी तरह से समझने के लिए उत्पत्ति की पुस्तक के पहले एवं पाँचवें अध्याय में अनेक बार आया यह वाक्यांश सहायक साबित होगा - "अपनी समानता में", "अपने स्वरूप के अनुसार", "अपनी-अपनी जाति के अनुसार", "अपनी जाति के अनुसार", "अपनी समानता के अनुसार" या "अपने स्वरूप में"। आदम से परिपूर्ण होने की बात को समझने के बाद ही "मसीह में" परिपूर्ण होने की सच्चाई समझ में आती है। हम आदम से हैं और आदम की तरह (पापी) हैं। हर एक मनुष्य के जीवन में आदम का ही स्वार्थपूर्ण, शारीरकतापूर्ण स्वभाव अर्थात् पाप-स्वभाव है। पाप-स्वभाव यानि बुराई करने की अन्तर्निहित प्रवृत्ति (अभिलाषा)। रोमियों की पत्री के पाँचवें अध्याय के उन्नीसवें पद के अनुसार हम अपने बुरे कामों के कारण ही पापी नहीं कहलाते, बल्कि हम जन्मजात पापी हैं। इसी मायने में अर्थात् अपने प्राकृतिक (स्वाभाविक) जन्म के अनुसार हम प्रथम आदम के स्वरूप अर्थात् पाप-स्वभाव में परिपूर्ण हैं। परन्तु रोमियों की पत्री के उपर्युक्त पद के

अंतिम खंड एवं कुलुस्सियों की पत्री के उपर्युक्त वाक्यांश तथा पवित्रशास्त्र के अन्य उदाहरणों से सुस्पष्ट है कि विश्वासीजन “मसीह में” एवं मसीह के द्वारा धर्मी ठहराया जा चुका है और “उसी में परिपूर्ण” किया गया है (कुलु0 2:6-10; उत्प0 1:11-12,21-25 एवं 26-27; उत्प0 5:3; रोमि0 5:19)।

यीशु मसीह ही हमारे नये जीवन का स्रोत है। हम उसमें उत्पन्न हुए हैं और पिता परमेश्वर ने “उसी में” हमें परिपूर्ण किया है। विश्वास के द्वारा जब हम इस सत्य के ज्ञान में विश्राम करना सीखते हैं, तो यह सच्चाई हमारे जीवन में साकार होने लगती है, और इस प्रकार हम अपनी उन आध्यात्मिक आशिषों को अपनाते जाते हैं जो हमारे लिए हैं। यह जानना एवं मानना बहुत महत्वपूर्ण है कि मसीह में उपलब्ध समस्त आत्मिक आशिषें हमारी हैं और उसमें हम परिपूर्ण हैं। इस सत्य के ज्ञान में हम धीरे-धीरे विकसित होते रहते हैं। इसी बात को दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है : परमेश्वर के घराने में ‘नया जन्म’ लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति आत्मिक तौर से ‘मसीह में’ परिपूर्ण पैदा होता है। इस विचार पर एक दूसरी तरह से सोचिए! क्या मसीह परिपूर्ण है? हाँ, मसीह में अब और कुछ जोड़ना जरूरी नहीं है, वह तो “परमेश्वरत्व की समस्त परिपूर्णता” है। अतः मसीह की परिपूर्णता में विश्वासपूर्वक आसरा-भरोसा व विश्राम रखने वाला मसीही विश्वासी भी परमेश्वर की समस्त परिपूर्णता से भरपूर होता जाता है। मनुष्य में मसीह के जीवन का यह संचारण उसे परमेश्वर का जन बनाता है। यहाँ, महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि ‘उसमें परिपूर्ण’ होने के कारण हमारे क्रिया-कलाप या कर्म-प्रयास, मसीह द्वारा सम्पन्न किए गये कार्य में कुछ और जोड़ कर हमें और अधिक परिपूर्ण नहीं बना सकते। हमें तो मसीह में

उपलब्ध अपने आध्यात्मिक जीवन-आशीष को अपनाना है, न कि अपने कर्म-प्रयास से परमेश्वर को कुछ कर दिखाने का दुस्साहस करना। हमें उत्पादन हेतु नहीं बल्कि मसीह में प्राप्त अपने आत्मिक जीवन को अपनाने (ग्रहण करने) हेतु बुलाया गया है (दू०कुरि० 5:17; दू०पत० 1:3; रोमि० 8:17; इफि० 1:3; कुलु० 2:9; इफि० 3:17-19)।

इस संदर्भ में यह समझना बहुत महत्वपूर्ण है कि ईश्वरपरायणता, ईश्वर-भक्ति या ईश्वर-निष्ठा एक "भेद" की बात है। "निःसंदेह भक्ति का भेद बड़ा गम्भीर है"। सच्ची ईश्वर-भक्ति मानवीय बुद्धि (मानव-मस्तिष्क) से परे की चीज है। इसे केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही समझना संभव है। किसी मनुष्य को किस आधार पर या कब और कैसे ईश्वर-परायण कहा जा सकता है? क्या यीशु मसीह की नकल करने पर? क्या परमेश्वर की नकल करने वालों को? नहीं। मनुष्य द्वारा ईश्वर की नकल या अनुकरण उसे सच्चा ईश्वर-भक्त नहीं बनाता। क्योंकि इसमें कोई "गम्भीर भेद" की बात ही नहीं रह जाती। इसके विपरीत, मनुष्य में ईश्वर-परायण अर्थात् ईश्वरीय-स्वभाव (की अनुरूपता) को उत्पन्न करना प्रभु परमेश्वर का कार्य है - रहस्यमय तौर पर एवं आश्चर्यजनक रूप में विश्वासीजन को मसीह के स्वभाव में ढालते रहने का ईश्वरीय कार्य। प्रभु-भक्ति का "गम्भीर भेद" यही है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि विश्वासीजन के जीवन में परिवर्तन-कार्य करने वाला पवित्र आत्मा ही है। जब हम यह समझने लगते हैं कि केवल सर्वशक्तिमान ईश्वर ही किसी व्यक्ति को ईश्वर-भक्त बना सकता है, तब हमारे पास स्वयं को उसके हाथों में सौंपने के अलावा अन्य कोई उपाय नहीं रह जाता। जो लोग भक्ति के इस भेद को पहचानने तथा प्रभु परमेश्वर पर ही

ऐसे जीवन-विकास के लिए आशा-भरोसा व विश्वास-विश्राम रखने से दूर रहते हैं, वे स्व-प्रयास अथवा ईसाई समाज की मज़हबी रीति-विधियों के पालन वगैरह के द्वारा स्व-निर्मित भक्ति का भेष अपनाने लगते हैं। उदाहरणार्थ, स्व-प्रयास द्वारा पाप-अंगीकार, 'अन्य भाषा' बोलने का स्व-प्रयास, चंगाई दिखाने पर जोर-शोर, चर्च-सदस्यता एवं उपस्थिति को आवश्यकता से अधिक महत्व देना, कुछ पोशाकों को पहनने या नहीं पहनने पर जोर-शोर, इत्यादि (प0तीमु0 3:16; दू0कुरि0 3:18; भज0 46:10; यूह0 15:5; रोमि0 12:1; कुलु0 2:20-23)।

जब प्रभु परमेश्वर ने मनुष्य को "अपने स्वरूप" में बनाया, तो इसका मतलब शारीरिक समानता नहीं थी, क्योंकि "परमेश्वर आत्मा है"। आत्माओं के शरीर नहीं होते। बहरहाल, **उत्पत्ति** के पहले अध्याय के अनुसार, मनुष्य को परमेश्वर का स्वरूप प्रदर्शित व प्रतिबिम्बित (या धारण) करने के लिए रचा गया था। तो क्या परमेश्वर दृश्यमान था? नहीं। अतएव **उत्पत्ति** के पहले अध्याय में "स्वरूप" का तात्पर्य भौतिक या शारीरिक नहीं है। प्रभु परमेश्वर ने मनुष्य को आन्तरिक तौर पर ऐसा रचा कि वह परमेश्वर के स्वभाव को प्रदर्शित कर सके। अर्थात् उसे एक (आत्मिक) प्राणी के रूप में बनाया - उसमें प्राण डाला। यहाँ प्राण से हमारा तात्पर्य है - मनुष्य का मन, इच्छा एवं भावना। मनुष्य का प्राण (अन्तरात्मा) ईश्वरीय स्वरूप में रचा गया है। मनुष्य में ऐसा मन-मस्तिष्क है कि वह परमेश्वर की तरह तर्क-वितर्क (विचार) कर सकता है, ईश्वर की भाँति चयन (इच्छा-निर्णय) कर सकता है, और ईश्वर की भाँति मनोवेग-सम्पन्न है अर्थात् प्रेम, आनन्द, दुःख व घृणा का अनुभव एवं प्रदर्शन कर सकता है (उत्प0 1:26-27; यूह0 4:24)।

मनुष्य की अन्तरात्मा यानि उसका प्राण ही उसके मन, इच्छा एवं भावनाओं को चलाता है, और इसीलिए ईश्वर-परायणता का अर्थ, ईश्वर द्वारा मनुष्य के प्राण (मन, इच्छा, भावना) का सक्रिय नियंत्रण एवं उसमें वास करना है। मसीह यीशु के जीवन से, अदृश्य परमेश्वर का ईश्वरीय स्वरूप इस धरती पर इसी प्रकार प्रकट हुआ। उसका देहधारी जीवन ईश्वर-भक्ति का "गम्भीर भेद" रहा - अर्थात् मनुष्य का देहधारी रूप किन्तु प्राण के द्वारा प्रकटित जीवन-व्यवहार में ईश्वरीय स्वरूप। इस बात को कुछ इस प्रकार सोचने-समझने का प्रयास कीजिए। हमने बिजली नहीं देखी है, मेरा मतलब है विद्युत धारा, न कि आकाश में चमकने वाली बिजली। परन्तु बल्ब को इसलिए बनाया गया है कि विद्युत करेन्ट मिलने पर रोशनी देता है। कहने का मतलब यह है कि प्रकाश प्रदान करने वाले बल्ब का कार्य-व्यवहार अदृश्य विद्युत-करेन्ट के कार्य-व्यवहार पर आधारित है। इसी प्रकार हमारे कार्य-व्यवहार द्वारा ईश्वरीय स्वभाव-स्वरूप प्रदर्शित होना है। ईश्वरीय स्वभाव रूपी यह प्रकाश-प्रदर्शन सिर्फ तभी सम्भव है, जब प्रभु परमेश्वर अपने अदृश्य आत्मा रूपी करेन्ट द्वारा हमारे जीवन में कार्य करता है। हाँ, तभी हम ईश्वरीय योजना के अनुरूप कार्य-व्यवहार करने में सक्षम होते हैं - अर्थात् ईश्वर-परायण।

इस प्रकार ईश्वर-भक्ति सिर्फ ईश्वरीय सामर्थ्य के द्वारा ही सम्भव है। रोचक है कि परमेश्वर ने मनुष्य को ईश्वरीय वास-स्थान होने के लिए रचा। पवित्रशास्त्र के अनुसार "उसमें जीवन था, और वह जीवन मनुष्य की ज्योति था"। ज्योति किस पर आश्रित थी? जीवन पर। जब पाप में पतन के समय, जीवन से मनुष्य अलग हो गया तब ज्योति जाती रही और इस पृथ्वी पर (मनुष्य जाति के जीवन-स्वरूप में) ईश्वरीय ज्योति नहीं रह गयी। तत्पश्चात् पृथ्वी पर आदम से उत्पन्न संतानें, उसकी (पाप-स्वभाव रूपी) समानता में ही

रहीं। अर्थात् इस धरती पर ईश्वरीय स्वभाव का इन्सान तब तक नहीं रहा जब तक कि मसीह यीशु (अर्थात् दूसरा आदम) पृथ्वी पर प्रकट नहीं हुआ। कहने का मतलब यह है कि हजारों वर्ष बाद मसीह के देहधारी रूप में परमेश्वर का स्वरूप पुनः प्रकट हुआ। उद्धारकर्ता के रूप में मसीह पर विश्वास करने के बाद, हमारे जीवन में भी ईश्वरीय स्वरूप में ढालने का नया आध्यात्मिक (ईश्वरीय) कार्य शुरू हो जाता है (ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमें सच्चा ईश्वरभक्त बनाने हेतु केवल ईश्वरीय सामर्थ्य ही पर्याप्त होती है। अतः हमारे पास सिर्फ एक ही विकल्प है - प्रभु परमेश्वर की विश्वसनीयता पर भरोसा रख कर उसी में विश्वास-विश्राम करना। हमें हड़बड़ी या जल्दबाजी में नहीं फंसना है, क्योंकि प्रभु परमेश्वर हड़बड़ी में नहीं है। हमें तो यह जानने-समझने की जरूरत है कि मसीह द्वारा पूर्ण किए गये कार्य के कारण परमेश्वर की दृष्टि में, हम भी "उसी में परिपूर्ण" किए गये हैं। अब इस परिपूर्णता के प्रकटन को केवल प्रभु परमेश्वर ही व्यवहारिक बना सकता है। हमें तो सिर्फ उसी पर आशा, भरोसा एवं विश्वास-विश्राम के साथ उसी की ओर देखते रहना है) (यूह0 1:4; उत्प0 3 एवं 5:3; इब्रा0 1:1-3; दू0पत0 1:3)।

अपनाना

यहाँ 'अपनाना' शब्द किसी नई चीज को प्राप्त करने के मायने में नहीं, बल्कि पहले से हमारे खास उपयोग के लिए उपलब्ध चीज़ को अपनाने के अर्थ में इस्तेमाल किया जा रहा है। इस बात को एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास करें। वर्ष 1916 में हेती ग्रीन नामक एक महिला की मृत्यु हुयी। वह अमेरिका की एक सबसे बड़ी कंजूस मानी जाती थी। परन्तु सच्चाई यह है कि मृत्यु के बाद वह अपने पीछे करोड़ों की सम्पत्ति छोड़ गई। वह इतनी कंजूस थी कि अक्सर बाजार से पकी-पकाई दलिया खरीदकर रखती थी, ताकि रसोई में ईंधन पर पैसा न खर्च करना पड़े। उसके बेटे को अपना पैर कटवाना पड़ा क्योंकि उसके इलाज हेतु मुफ्त का दवाखाना खोजते-खोजते उसने बहुत देर कर दी थी। कुछ लोग उसे सनकी व पागल कहते थे। इस महिला का उदाहरण बहुत से विश्वासियों की एक तरवीर पेश करता है। क्योंकि मसीह में उपलब्ध अपार आध्यात्मिक सम्पदा के बावजूद अनेक मसीही लोग आत्मिक भिखारियों जैसा जीवन बिताते हैं।

इस संदर्भ में दो खास बातों को ध्यान में रखना जरूरी है - सबसे पहले हमें मसीह में मिल चुके आध्यात्मिक आशीषों को जानना-पहचानना आवश्यक है। तत्पश्चात् हमें अपने जीवन में इसकी आवश्यकता को पहचानना जरूरी है। मसीह में उपलब्ध आशीषों को विश्वासपूर्वक पाने व अपनाने की हमारी क्षमता इन्हीं दोनों बातों पर आधारित है। इफिसियों की पत्री के पहले अध्याय में विश्वासियों के लिए पौलुस की प्रार्थना में उस चीज की माँग नहीं

की गई है जो उनके पास नहीं थी, बल्कि उन्हें पहले से प्राप्त आत्मिक आशीष का अर्थ समझाने के लिए प्रार्थना की गई है। इफिसियों की पत्री के पहले तीन अध्यायों में पौलुस विश्वासियों से यह समझने का आग्रह करता है कि उन्हें मसीह में कितनी श्रेष्ठ-स्थिति (उत्तम आत्मिक आशीष) प्राप्त है। पौलुस ने विश्वासी जन को 'मसीह के साथ स्वर्गीय स्थानों में बैठाया गया' जन कहा है। जैसे उस समय के विश्वासियों के लिए मसीह में प्राप्त अपनी श्रेष्ठ-स्थिति या आत्मिक आशीषों को समझना महत्वपूर्ण था, वैसे हमारे लिए भी इनको समझना आवश्यक है। इस पत्री के पहले अध्याय के पहले पद में मसीही विश्वासियों को 'सन्त या पवित्र जन' कहा गया है। यहाँ यह बात ठीक से समझना जरूरी है कि नया नियम की शिक्षा के अनुसार 'सन्त या पवित्र जन' का अर्थ निष्पाप व्यक्ति नहीं है, बल्कि उद्धार-प्राप्त पापी जन है। इस पत्री में विश्वासीजन को एक धन्य व्यक्ति, परमेश्वर के समक्ष प्रेम में पवित्र व निर्दोष होने हेतु चुना हुआ जन, लेपालक पुत्र, उस प्रिय में स्वीकार्य जन, क्षमा व छुटकारा प्राप्त जन, ईश्वरीय इच्छा एवं योजना का भागीदार जन, उत्तराधिकार-प्राप्त जन, मुहर लगाया गया जन, छुटकारे की गारन्टी पाया जन, परमेश्वर के प्रेम का पात्र, नये जीवन में जिलाया गया जन, अनन्त ईश्वरीय अनुग्रह का पात्र, ईश्वरीय कारीगरी का पात्र, स्वर्गिक नागरिक और परमेश्वर के घराने का सदस्य बताया गया है। मसीह के जीवन-अनुभव की तैयारी हेतु उसमें प्राप्त अपने आत्मिक अधिकार, आत्मिक सम्पदा एवं आत्मिक सुअवसरों को पहचानना बहुत जरूरी है (इफि0 1:16-19; 2:1-14; 2:4,5,7,10,19)।

कुछ मसीही उकाब के उस बच्चे की तरह जीवन जीते हैं जो घोंसले से गिरने के बाद मुर्गियों के एक झुण्ड में मुर्गियों के

बच्चों के साथ पाला-पोसा गया और आगे चल कर उकाब की तरह आकाश में उड़ने के बजाय अपने जीवन भर मुर्गियों की तरह ही जमीन में इधर-उधर अपनी चोंच से खाना ढूँढता फिरा। क्यों? क्योंकि वह अपनी श्रेष्ठ-स्थिति या अधिकार को नहीं समझा। इसी तरह बहुत से मसीही लोग प्रभु यीशु में प्राप्त अपने स्वर्गिक आशिष-अधिकार के प्रति अपनी अज्ञानता के कारण सांसारिकता व स्व-प्रयास में फंसे रह कर आध्यात्मिक उन्नति से दूर रहते हैं।

जब हम मसीह में प्राप्त अपने आत्मिक आशिष-अधिकार को पहचानने लगते हैं, तब प्रभु परमेश्वर हमारे जीवन में ऐसी आवश्यकताओं को आने देगा कि हम परमेश्वर-प्रदत्त उपाय (आध्यात्मिक अधिकार व आशिष) को अपनाना सीखेंगे। दूसरा इतिहास की पुस्तक के बीसवें अध्याय में राजा यहोशापात से सम्बंधित इसका एक वास्तविक उदाहरण पाया जाता है। हमारे इहलौकिक जीवन के अनुभव, हमारे जीवन में मसीह की आवश्यकता को दर्शाने हेतु डिजाइन किए गए हैं। अतः अपनी आवश्यकता के साथ, जैसे-जैसे मसीह में हम अपनी स्थापना सम्बन्धी आशिष व अधिकार को पहचानने लगते हैं, वैसे-वैसे बचकानी चाल के बजाय विश्वास के सहारे जिम्मेदार मसीही जीवन आचरण में बढ़ते जाते हैं। ऐसा विश्वासी जन परमेश्वर पर भरोसा रखने और उसमें विश्वास-विश्राम करने की प्रवृत्ति में बढ़ता है। वह परमेश्वर-प्रदत्त आत्मिक आशिषों को अपनाना एवं उस पर शांति व धैर्यपूर्वक आशा-भरोसा रखना सीखता है, न कि सिर्फ माँगते व चिल्लाते रहना। ऐसा जन "शान्त रहने और भरोसा रखने में ही" अपनी वीरता समझता है। इफिसियों 1:3 के बारे में विक्लिफ बाइबल ट्रांसलेटर्स नामक संस्था के सह-संस्थापक श्री एल0एल0 लेटजर्स ने यह टिप्पणी की है : "ध्यान दें कि प्रभु परमेश्वर सब कर चुका है!

सब कुछ कर चुका है। सारा काम पूरा हो चुका है। स्वर्गिक दृष्टि में प्रभु परमेश्वर हमें प्रत्येक आवश्यक आशीष से आशीषित कर चुका है। बड़े अफसोस की बात तो यह है कि हम उससे यह आशीष, वह आशीष माँगते फिरते हैं; जबकि वह सारा काम कर चुका है। 'मसीह में' हमें समस्त आशिषों से आशीषित कर चुका है"। इसी बात को "आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्त" नामक पुस्तक में श्री एम0जे0 स्टैन्फोर्ड ने भी स्पष्ट किया है - जब विश्वासी जन मसीह में प्राप्त अपने आत्मिक आशीष को जानने-पहचानने लगता है, तब अपनी आवश्यकतानुसार परमेश्वर-कृत एवं परमेश्वर-प्रदत्त आशिषों को अपने जीवन में अपनाता जाता है (दू0इति0 20:1-24; यशा0 30:15; इफि0 1:3)।

परमेश्वर-प्रदत्त आध्यात्मिक आशिषों को अपने जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार अपनाने के प्रसंग में "प्रतीक्षा-काल" के महत्व की अनदेखी नहीं की जा सकती। स्वीकार्यता के ज्ञान और आत्मिक आशिषों को अपनाने के बीच प्रायः प्रतीक्षा का समय आता है - अक्सर वर्षों का समय। ऐसे समय हमारी जिम्मेदारी यह है कि धैर्यपूर्वक परमेश्वर को हमारे जीवन में अपना काम करने दें - हमारे जीवन में उसे अपना उद्देश्य कार्यकारी बनाने में चाहे जितना समय लगे उसके लिए हमें उस पर आशा-भरोसा व धीरज के साथ प्रतीक्षा करनी है। इस संदर्भ में भजन संहिता 27:13-14 को नहीं भूलना चाहिए। आत्मिक आशिषों को सचमुच अपनाने एवं हमारे व्यवहारिक अनुभव के मध्य प्रायः एक महत्वपूर्ण अन्तराल पाया जाता है। मॉइल्स जे0 स्टैन्फोर्ड नामक विद्वान ने इसे 'बेचैनी भरा ठहराव' भी कहा है। परमेश्वर के इस अनुग्रहपूर्ण कार्य के अनुभव अर्थात् प्रतीक्षाकाल के दौरान अनेक विश्वासी एक प्रकार की अस्पष्ट उलझन, घबराहट, खालीपन, हताशा, निराशा, व्याकुलता या आत्मिक कमजोरी का

अनुभव करने लगते हैं। ऐसे समय विश्वासी जन को ऐसा लगता है जैसे कि परमेश्वर उसके लिए कुछ नहीं कर रहा है, और अन्य कोई न तो उसे समझ रहा है और न ही उसकी मदद कर रहा है। उसकी अपनी इच्छानुसार ईश्वरीय कार्य नहीं देखने के कारण यह बेचैनी और बढ़ जाती है। ऐसे समय हमारे चहुँओर के संसार के दबाव में पारिवारिक एवं कलीसियाई समस्याओं का बढ़ना एवं जटिल होना स्वाभाविक है। प्रतीक्षा काल के दौरान ये समस्याएं हमारी आत्मिक अवस्था पर और अधिक दबाव डालती हैं, असहनीय जैसा दबाव। इस अवस्था में बहुत से जागरूक विश्वासी भी डगमगाने लगते हैं। हाँ, ये जागरूक विश्वासी अपने मसीही जीवन-विकास में एक खास बिन्दु तक आध्यात्मिक विकास किए हैं और पाप की अधीनता से एक खास बिन्दु तक छुटकारा भी पाए हैं; फिर भी ऐसे तनाव-दबाव के वक्त उनकी आत्मिक क्षमता क्षीण दिखने लगती है (भज0 27:13-14; प0पत0 5:10; गला0 2:20; फिलि0 1:21)।

आत्मिक आशिष को अपनाने और इसके व्यवहारिक अनुभव के बीच इस अन्तराल की व्याकुलता अर्थात् प्रतीक्षाकालीन बेचैनी व हताशा के दौरान ही बहुत से विश्वासी पीछे मुड़ कर 'मिस्री मीट की हॉडियों' के बारे में सोचने लगते हैं (निर्ग0 16:3)। इस सम्बन्ध में गिनती की पुस्तक के बत्तीसवें तथा यहोशू की पुस्तक के पहले अध्याय में रूबेन के गोत्र, गाद के गोत्र तथा मनश्शे के अर्ध-गोत्र के बारे में प्राप्त विवरण पर ध्यान देना सहायक होगा। इस्राएलियों की चालीस वर्षीय मरुस्थलीय यात्रा के दौरान वे एक समय ऐसे स्थान पर पहुंचे जहाँ की जमीन पशुओं के लिए बड़ी उपयुक्त थी। वहाँ की चरागाह वाली उपजाऊ जमीन को देखकर अपने पशुधन के कारण इस्राएलियों के उपर्युक्त अढ़ाई गोत्र के लोगों ने मूसा से कहा : "हमें हमारा भाग यरदन के इसी पार" इस स्थान में चाहिए। वह

स्थान उपजाऊ था और भविष्य में उनके पशुओं तथा उनके धन-सम्पत्ति के लिए आकर्षक था। इस आकर्षण में आकर उन्होंने मूसा से कहा कि हम कनान में नहीं जाएंगे। वहाँ की सारी परेशानी झेलने के बजाय हम यहीं रहना पसन्द करेंगे। गिनती के बत्तीसवें अध्याय से ऐसा प्रतीत होता है कि अन्ततः मूसा उनके इस प्रस्ताव से सहमत था। वैसे मूसा के पास और कोई खास विकल्प भी नहीं था। प्रभु परमेश्वर ने यह निर्णय मनुष्य के हाथ में छोड़ दिया है कि वह किस प्रकार का जीवन जीना चाहता है। अतः मूसा ने उन्हें यरदन के “पूर्व की ओर” बसने के लिए वह स्थान दे दिया - लेकिन एक शर्त के साथ कि वे परमेश्वर की प्रजा के साथ प्रतिज्ञात् देश के संघर्ष में अवश्य भाग लेंगे (निर्ग० 16:3; गिनती 32:1-23)।

रोचक तथ्य यह है कि वास्तव में मूसा ने इन अढ़ाई गोत्रों के लोगों को इस्राएली सेना की अगुवाई करने का सुअवसर प्रदान किया। अर्थात् रूबेन, गाद एवं मनश्शे के गोत्र के लोगों को शेष इस्राएलियों से पहले कनान में प्रवेश करना था, और उनके द्वारा उस देश की उपज का स्वाद चखने तथा उस पर विजय के रोमांच का अनुभव करने के बाद ही यहोशू उन्हें बियाबान में वापस जाने की अनुमति देने वाला था (बशर्ते वे तब भी वहीं वापस जाना चाहते)। आगे चलकर वह खास समय आया जबकि यहोशू ने उनके निर्णय के बारे में उन्हें पुनः याद दिलाया। रुचिकर बात यह है कि मूसा के साथ अपने सौदे के अनुसार वे कनान में इस्राएली सेना की अगुवाई करने एवं विजय का स्वाद चखने के बाद भी उस बियाबान के आराम, उपज एवं आनन्द में ही वापस जाना चाहते थे। पहला इतिहास की पुस्तक के पाँचवें अध्याय में इन अढ़ाई गोत्रों के इस निर्णय का भावी परिणाम लिपिबद्ध किया गया है। बहुत सालों बाद के इस विवरण में यह देखने को मिलता है कि परमेश्वर की सर्वोत्तम

आशिष, परमेश्वर-प्रदत्त विजय तथा परमेश्वर-प्रदत्त प्रतिज्ञात् देश में परमेश्वर के प्रजा की अगुवाई करने का स्वाद चखने वाले इन गोत्रों को ही इस्राएल पर अपने आक्रमण के समय अस्सीरियाई लोग सबसे पहले बंधुवाई में ले गए। ऐसा प्रतीत होता है कि इन गोत्रों के लोग अपनी इस पराजय, गुलामी व बर्बादी से फिर कभी वापस (मुक्त) नहीं हुए। हाँ, वे प्रतिज्ञात् देश में प्रवेश किए, वहाँ की आशिष का रसास्वादन किए, परन्तु वे बियाबान की शारीरिकापूर्ण अभिलाषाओं में ही वापस गए और उसी में फँसे रहे (यहोशू 1:12-15; प0इति0 5:25-26; इब्रा0 6:4-6)।

यह महत्वपूर्ण नहीं है कि किसी विश्वासीजन के मसीही जीवन की शुरुआत कैसी रही, बल्कि महत्वपूर्ण यह है कि मसीही जीवन अन्त तक कैसा रहा। परमेश्वर के अनुग्रह का ज्ञान-प्रकाश पाना एक बात है, परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि क्या हम विश्वास के सहारे प्रभु के साथ 'यरदन पार' जा रहे हैं? **यरदन पार करना** मसीही जीवन के एक चरण से दूसरे चरण में बढ़ने का प्रतीक है। अर्थात् अहं-केन्द्रित जीवन से खीप्त-केंद्रित जीवन की ओर बढ़ने का प्रतीक, मानव प्रयास के सहारे आत्मिक जीवन जीने की असफल कोशिश से परमेश्वर पर विश्वास के सहारे जीवन जीने की ओर बढ़ने का प्रतीक। बीच में बाढ़ से जलमग्न यरदन नदी की विशाल जलधारा बहती है, जो कि असम्भव का प्रतीक है। परन्तु परमेश्वर ही असम्भव को सम्भव बनाता है, और वही हमारे जीवन में अपनी साक्षी तैयार कर रहा है। आध्यात्मिक मसीही विकास का कोई शॉर्टकट मार्ग नहीं है, कोई झटपट व आसान तरीका या फार्मूला नहीं है। इस जीवन-मार्ग के कष्टप्रद व पीड़ाप्रद क्षणों के बारे में केवल वही ठीक से जानता-समझता है। हम केवल उन्हीं पाठों

(सबक) को सिखा सकते हैं जिन्हें हमने उसके द्वारा स्वयं सीख लिया है (दू0कुरि0 1:3-4)।

इस प्रकार परमेश्वर-प्रदत्त आत्मिक आशिषों को अपनाने के लिए तीसरा महत्वपूर्ण तत्व यह है कि इन आत्मिक आशिषों को हमारे जीवन-व्यवहार में लागू करने हेतु परमेश्वर को आवश्यक समय मिले। इस तीसरे तत्व से पहले मसीह में प्राप्त हमें अपने आत्मिक आशिष को जानना-पहचानना और तत्पश्चात् अपनी आवश्यकता के प्रति जागरूक होना जरूरी है। लेकिन यदि हम अगली मीटिंग, अगले साक्षात्कार या अगली पढ़ी जाने वाली पुस्तक में अपनी आवश्यकता-पूर्ति की आशा कर रहे हैं तो वास्तविकता से दूर भाग रहे हैं। इस सम्बन्ध में इब्रानियों की पत्री का एक पद हमें खास चेतावनी देता है। अर्थात् परमेश्वर के अनुग्रह से प्राप्त आत्मिक आशिषों को अपनाने से दूर भागने वालों के लिए चेतावनी : “ध्यान रखो कि कोई परमेश्वर के अनुग्रह से वंचित न रह जाए, या कड़वी जड़ फूट कर कष्ट का कारण न बने, जिससे कि बहुत से लोग अशुद्ध हो जाएं”। हाँ, विश्वास, समय, अपनाना, ईश्वरीय उद्देश्य, मसीह के स्वरूप में हमें ढालने हेतु ईश्वरीय उपाय तथा मसीह में हमारी परिपूर्णता वगैरह की बात करना सरल है, किन्तु जब तक इन ईश्वरीय आशिषों को हम अपनाना शुरू नहीं करते तब तक हमें कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं मिलेगा (इब्रा0 12:15)।

पहचान

‘पहचान’ आध्यात्मिक विकास का आठवाँ सिद्धान्त है। बहुत से विकासोन्मुख विश्वासी इस सिद्धान्त के महत्व को समझने में बड़ी कठिनाई महसूस करते हैं। संभवतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से विश्वासी ‘मसीह के साथ पहचान’ रूपी इस सच्चाई को शायद कभी नहीं समझेंगे। परन्तु हममें से अनेक जन प्रभु परमेश्वर द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में ले जाए जाने के बाद अपने जीवन में शीघ्र ही इस सत्य की वास्तविकता को देखने व समझने लगते हैं कि हमारे भीतर की शारीरिकता (पाप-स्वभाव) कितनी भयावह तौर से पापी है। इस सम्बन्ध में रोमियों के सातवें अध्याय का ध्यानपूर्वक एवं सावधानीपूर्वक मनन-चिंतन सहायक साबित होगा। हमारे भीतर वास करने वाली पाप की शक्ति ही ‘शारीरिकता’ है, अर्थात् बुराई करने की आन्तरिक अभिलाषा। यह शक्ति जन्म से ही हमें आदम से विरासत में मिली है और हमारी मृत्यु तक (अर्थात् आजीवन) हमारे साथ रहेगी। यह विकराल एवं अत्यन्त पापपूर्ण है और अपरिवर्तनीय है।

इस पापपूर्ण शक्ति पर विजय का एकमात्र उपाय प्रभु परमेश्वर ने ही किया है। यह ईश्वरीय उपाय ‘मसीह के साथ हमारी पहचान’ से सम्बद्ध है, और यही इस पाठ का विषय है। प्रतिस्थापन (मसीह का हमारे बदले बलिदान होना अर्थात् आत्मिक नवजीवन) सम्बन्धी सच्चाईयों के विचार से आगे बढ़ते हुए मसीह के साथ आत्मिक “पहचान” (मसीह के साथ हमारी मृत्यु) के बारे में

सोचते समय रोमियों के छठवें अध्याय पर आधारित प्रभु के कुछेक दासों के निम्नलिखित विचार उद्धरणीय हैं :

श्री इवान एच० हॉपकिन्स के अनुसार : "मसीह को अपनी धार्मिकता जानने-मानने वाले विश्वासी की पाप सम्बन्धी प्रमुख समस्या पाप के दोष को लेकर नहीं बल्कि पाप की शासन-शक्ति को लेकर है। दूसरे शब्दों में, वह पाप के बोझ या अपराध-दोष की भावना से स्वतंत्रता के लिए परेशान नहीं है (क्योंकि वह यह जानता है कि परमेश्वर ने मसीह में उसे उसके पाप-दोष व दण्ड से पूर्णतः मुक्त कर दिया है), बल्कि वह तो पाप रूपी मालिक (शासक) से छुटकारा पाना चाहता है। इस पाप रूपी मालिक (शासक) से छुटकारा पाने के ईश्वरीय तरीके को जानने के लिए विश्वासी को रोमियों की पत्री के छठवें अध्याय की सच्चाई को समझना आवश्यक है। रोमियों की पत्री के इस अध्याय में हम यह पाते हैं कि परमेश्वर ने क्या किया है - हमारे पापों के साथ क्या किया है यह नहीं, यह तो पौलुस छठवें अध्याय से पहले के अध्यायों में बता चुका है - बल्कि छठवें अध्याय में यह बताया गया है कि प्रभु परमेश्वर ने स्वयं हमारे साथ क्या किया है जो पाप के एजेन्ट व दास हैं। उसने हमारा पुराना मनुष्यत्व यानि हमारे आदमजात अहं को वहीं रख दिया जहाँ उसने हमारे पापों को रखा, अर्थात् मसीह के क्रूस पर। अतः पौलुस लिखता है : 'यह जानते हुए कि हमारा पुराना मनुष्यत्व उसके साथ क्रूस पर चढ़ाया गया' (रोमि० ६:६)। इस प्रकार मसीह के क्रूस की ओर देखने वाला विश्वासी सिर्फ यह नहीं देखता कि मसीह उसके लिए मरा (प्रतिस्थापन या एवजी मृत्यु) बल्कि यह कि मसीह के साथ उस विश्वासी का पुराना मनुष्यत्व भी मरा (विश्वासी की नई पहचान), (Evan H. Hopkins - Thoughts on Life and Godliness, P. 50)।

श्री आर० पैक्सन के विचारों पर ध्यान दें : "मेरा और आपका पुराना 'मैं' (अहं) न्याय सम्मत् रूप से मसीह के साथ क्रूस पर चढ़ाया जा चुका है। 'तुम मर गये' और तुम्हारी मृत्यु मसीह की मृत्यु के दिन से गिनी जाती है। परमेश्वर की दृष्टि में हमारा 'पुराना मनुष्यत्व' या 'पुराना अहं' मसीह के साथ क्रूस पर ले जाया गया, उसके साथ क्रूस पर चढ़ाया गया और उसके साथ कब्र के अन्दर ले जाकर दफनाया गया। 'शारीरिकता' के कब्जे से छुटकारा और 'पुराने मनुष्यत्व' के अपदस्थ होने का पक्का भरोसा इस सच्चाई की समझ और स्वीकरण पर आधारित है कि हम मसीह के साथ सह-क्रूसित हो चुके हैं" (R. Paxson - Life on the Highest Plane, Vol. II, PP. 78-79)।

श्री जे० पेन-लेविस के इस विचार पर ध्यान दें : "यदि किसी विश्वासी ने 'मसीह के हमारे लिए मरने' और 'उसके हमारे साथ मरने' के फर्क को पहचाना नहीं, स्वीकारा नहीं और व्यवहार में नहीं लाया, तो सुस्पष्ट है कि उसके जीवन में अभी 'अहं' का बोलबाला है" (J. Penn Lewis - Memoir, P. 26)।

गलातियों की पत्री के दूसरे अध्याय में पौलुस ने मसीही जीवन की परिभाषा प्रदान की है : "अब मैं नहीं जीवित रहा, परन्तु मसीह मुझमें जीवित है"। इन शब्दों में उच्च आदर्श वाली इसाईयत का मजहबी विवरण नहीं, बल्कि प्रत्येक सच्चे मसीही विश्वासी के लिए सामान्य आत्मिक अवस्था को दर्शाया गया है। अब हम अपनी शक्ति से अपना जीवन नहीं जीते, बल्कि मसीह अपना जीवन हमारे जीवन में जीता है। पवित्रशास्त्र में प्रभु परमेश्वर ने इस सत्य को सुस्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता का एक ही ईश्वरीय समाधान है - प्रभु यीशु मसीह। इसीलिए पौलुस पहला

कुरिन्थियों के दूसरे अध्याय के आरम्भ में यह कहता है : “मैंने यह ठान लिया था कि तुम्हारे बीच यीशु मसीह वरन् क्रूस पर चढ़ाए गये मसीह को छोड़ और किसी बात को न जानूँ”।

यह बात इससे पहले भी कही जा चुकी है कि हममें से प्रत्येक के भीतर अहं-केन्द्रित हमारा स्वभाव है। इस संदर्भ में रोमियों 5:19 का उद्धरण हमें यह याद दिलाता है कि हम क्योंकर पापी हैं। बाइबल के अनुसार हम इसलिए पापी हैं क्योंकि हम पापी अवस्था में पैदा हुए हैं, न कि केवल अपने पाप-कर्मों के कारण। बहरहाल क्रूस ही परमेश्वर-प्रदत्त विजय का उपाय है। रोमियों की पत्री के पाँचवें अध्याय के उपर्युक्त पद से सुस्पष्ट है कि पाप एवं अहंकार (स्वार्थ) की गुलामी हमें जन्म से ही मिली है। अतएव पाप एवं स्वार्थ से छुटकारा केवल मृत्यु के द्वारा ही मिलता है। स्वार्थ-केन्द्रित इच्छाओं को दबाने, अनुशासित करने अथवा पाप-स्वीकरण के माध्यम से पाप व स्वार्थ पर सच्ची विजय नहीं मिलती। इस विजय का परमेश्वर-प्रदत्त मार्ग केवल क्रूस में है, अर्थात् मृत्यु या क्रूसित जीवन द्वारा (रोमि0 5:19; 6:1-14)।

रोमियों की पुस्तक के छठवें अध्याय पर इस संक्षिप्त टीका पर विचार कीजिए। इस अध्याय में ईश्वरीय अनुग्रह के दुरुपयोग के बारे में सचेत किया गया है। दूसरे पद के अनुसार हम मसीहीगण पाप के वास्ते नहीं, बल्कि पाप (की अधीनता) के प्रति मर चुके हैं। तीसरे-चौथे पद पर ध्यान दें। चौथे पद में बपतिस्मा शब्द का तात्पर्य 'पहचान, एकीकरण, अभिन्नता, सहभागिता, समानता या एकता' है। अतः चौथे पद को इस प्रकार भी पढ़ा जा सकता है - 'उसकी मृत्यु में अपनी एकता के कारण, हम उसके साथ गाड़े गए, ताकि जैसे मसीह मृतकों में से जीवित किया गया उसी प्रकार हम भी

जीवन की नयी चाल चलें'। छठवें पद में प्रयोग किए गये "जानते हुए" शब्दों का अर्थ है, भलीभांति समझना। मसीह के साथ अपनी आध्यात्मिक पहचान को समझना शुरू करने पर बहुत से विश्वासी ग्यारहवें पद के 'समझने, मानने या गिनने' (अंग्रेजी शब्द रेकनिंग - Reckoning) पर विशेष जोर देने लगते हैं। परन्तु ऐसे लोग इस बात की अनदेखी कर देते हैं कि छठवें पद के बिना ग्यारहवाँ पद महत्वहीन हो जाता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सच्ची आध्यात्मिक समझ की कुंजी ईश्वरीय ज्ञान-प्रकाशना है। सच्ची समझ के लिए ईश्वरीय प्रकाशना जरूरी है (मत्ती 16:13-17)।

अब रोमियों की पत्री के छठवें अध्याय के तेरहवें पद पर विचार करें। इस पद में "सौंपो" शब्द आया है। ऊपरी तौर पर यह शब्द स्व-प्रयास द्वारा अंगों को सौंपने जैसा मतलब दर्शा सकता है। लेकिन ऐसा अर्थ लगाना इस अध्याय के इन पदों की मुख्य बात की अनदेखी करना होगा। ध्यान दें कि छठवें से तेरहवें पद में 'जानना', ग्यारहवें पद में "समझना" और तेरहवें पद में "सौंपना"। जब हम किसी बात को पूर्णतः सत्य जानते-मानते हैं तो उस पर स्वाभाविक तौर पर विश्वास व भरोसा करते हैं। इतना ही नहीं, उसके लिए स्वभाविक तौर पर स्वयं को सौंप देते हैं, उसके प्रति सक्रिय रहते हैं। नतीजतन चौदहवें पद के अनुसार, हमारे ऊपर पाप का शासन-अधिकार नहीं रहेगा, क्योंकि हम व्यवस्था के अधीन नहीं बल्कि अनुग्रह के अधीन हैं। (व्यवस्था क्या है? परमेश्वर को प्रसन्न करने हेतु मानवीय कर्म-प्रयास। और अनुग्रह क्या है? मनुष्य के लिए ईश्वरीय कार्य)। व्यवस्था क्या पूछती है? ईश्वर को खुश करने हेतु मनुष्य को क्या करना है? अनुग्रह क्या पूछता है? परमेश्वर ने (मनुष्य के लिए) क्या किया है?

बहरहाल, महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस पवित्रशास्त्र में यह लिखा है कि मसीह हमारे बदले मरा (रोमि0 5:8), उसी पवित्रशास्त्र में यह भी बताया गया है कि "हम मसीह के साथ मर गए" (रोमि0 6:8; गला0 2:20)। इस सच्चाई को स्वीकार करने या मानने में बहुत से मसीहियों को बड़ी कठिनाई महसूस होती है। लेकिन मसीह की मृत्यु को मानने वाले विश्वासी को मसीह के साथ अपनी मृत्यु रूपी आत्मिक सच्चाई को भी उतनी ही निश्चयता के साथ जानना, मानना व विश्वास करना है। जरा सोचें! इस तथ्य पर हम क्यों विश्वास करते हैं कि मसीह हमारे लिए मरा? क्योंकि पवित्र बाइबल अर्थात् परमेश्वर के वचन में यह लिखा है। अब आगे की इस बात पर विचार करें। जब ख्रीष्ट क्रूस पर चढ़ाया गया, तो उसके साथ दो डाकू भी क्रूस पर चढ़ाए गए थे। इस बात पर भी हम शक नहीं करते। क्यों? क्योंकि पवित्र वचन में यह बात लिखी हुयी है। इस प्रकार मसीह की मृत्यु पर हम ईमान रखते हैं, और उन दोनों डाकूओं की मृत्यु को भी मानते हैं; लेकिन अपनी मृत्यु के बारे में क्या सोचते हैं (यानि मसीह के साथ हमारे पुराने पाप-स्वभाव की मृत्यु), (गला0 2:20)?

यह बिल्कुल सत्य है कि मसीह मरा, सचमुच उन दोनों डाकूओं की मृत्यु भी हुयी, और (आध्यात्मिक दृष्टि या परमेश्वर की दृष्टि में) यह भी सत्य है कि मसीह के साथ हम भी मर चुके हैं। जब मसीह मरा, तब उसमें (अर्थात् अपने प्रतिनिधि में) हम भी थे। अपने जिस अहं या स्वार्थीपन से हम अब नफरत करते हैं, वह मसीह के साथ उस क्रूस पर क्रूसित हुआ और इस प्रकार 'जो मर गया वह पाप की सत्ता की अधीनता से मुक्त हो चुका' है (रोमि0 6:7)। पाप की अधीनता से छुटकारे का ईश्वरीय तरीका मनुष्य के तरीके से बिल्कुल भिन्न है। मनुष्य तो पाप को नियन्त्रण द्वारा दबाना

चाहता है, लेकिन प्रभु परमेश्वर तो पापी को ही हटाना (दण्डित करना) चाहता है। मसीही जीवन में कोई भी सकारात्मक परिवर्तन हमारे पुराने मनुष्यत्व (शारीरिकता) की मरम्मत या सुधार से नहीं आता, बल्कि सच्चा मसीही परिवर्तन शारीरिकता के क्रूसित होने और इसके स्थान पर पवित्र आत्मा के आसीन होने से आता है। हमारा पुराना स्वभाव पूरी तरह से भ्रष्ट, पतित, सुधरने लायक नहीं और लाइलाज है। यह तो सिर्फ मृत्यु के ही योग्य है। जैसे एक सूअर तो सूअर ही है, उसी प्रकार हमारा पुराना आदम-स्वभाव अर्थात् शारीरिकता तो शारीरिकता ही है। लेकिन कुछ लोग यह सोचते हैं कि यदि सूअरों को बेहतर वातावरण, बेहतर शिक्षा और बेहतर पालन-पोषण मिले तो वे कीचड़ में जाना छोड़ देंगे। ऐसे लोगों के कहने का मतलब यह है कि अपने साफ-सुथरे कमरे में किसी सूअर के बच्चे को उसके बचपन की अवस्था से ही पालन-पोषण करके तो देखिए। उसे बाजार से बढ़िया से बढ़िया टी शर्ट व जीन का पैन्ट लाकर पहनाइए और बिस्तर में स्वच्छ गद्दा, तकिया व चादर लगा कर उसे सुलाइए। और हाँ, बिस्तर पर सुलाने से पहले उसे पैर पोंछना और कम्बल ओढ़ कर सोना सिखाना मत भूलिए। इसके अलावा उसे टेबुल पर ठीक से बैठ कर भोजन करना तथा घर के अंदर रहन-सहन की अन्य सभी अच्छी आदतें भी सिखाकर अपने साथ घर में रहना सिखाते रहिए। परन्तु यह सब कितना सच व सफल होता है, इसकी जाँच तब होती है जब किसी दिन गलती से घर का दरवाजा खुला रह जाता है और आपके कमरे में स्वच्छ वातावरण में पाला-पोसा वह 'सूअर का बच्चा' भाग कर सीधे आपके घर के सामने की नाली के कीचड़ में ही लोटने लगता है - हाँ, ब्लू जीन की पैन्ट व टीशर्ट सहित। क्यों? क्योंकि सच्चाई यह है कि सूअर तो सूअर ही है और वस्त्र, शिक्षा, प्रशिक्षण या वातावरण

उसके स्वभाव को नहीं बदल सकते। वह अपने स्वभाव के अनुसार ही अपना व्यवहार करेगा। अंततः उसके स्वभाव का तकाजा उसे कीचड़ में ही ले जाएगा। हमारे पुराने आदम स्वभाव की भी यही दशा है। हमारी आन्तरिक शारीरकता पाप-प्रेम से नाता नहीं तोड़ना चाहती, और न ही यह नाता तोड़ेगी। मौका पाते ही हमारी शारीरकता हमें पाप की ओर ही गिराती है। इसीलिए प्रभु के अच्छे से अच्छे भक्तों में भी बुराई कर बैठने की क्षमता पायी जाती है। सच्चाई तो यह है कि प्रभु के असली भक्त ही इस वास्तविकता को भली-भाँति जानते हैं। वे अपने अनुभव से जान लेते हैं कि उनकी शारीरकता या पुराना स्वभाव मरम्मत से नहीं बल्कि क्रूसित होने से ही बेहतर बनता है। जैसे सूअर तो सूअर ही होता है, उसी प्रकार पुराना आदम स्वभाव यानि शारीरकता तो शारीरकता ही होती है (दू०प० 2:22; नीति० 26:11; यूह० 3:6)।

शारीरकता के खतरे सम्बन्धी इस सच्चाई से अब्राहम का तब सामना हुआ जबकि मिस्र में फिरौन राजा से उसने झूठ बोला, मूसा का इससे आमना-सामना तब हुआ जबकि दूसरी बार उसने चट्टान को अपनी लाठी से मारा, शिमशोन का इस वास्तविकता के साथ आमना-सामना दलीला की बाँहों में हुआ, दाऊद का इस सच्चाई से आमना-सामना तब हुआ जबकि उरिय्याह को मौत के घाट भेजकर उसकी पत्नी बतशेबा के साथ उसने व्यभिचार किया, और पतरस ने इस वास्तविकता को तब पहचाना जबकि मसीह का इनकार करने के बाद यरुशलेम की गलियों में वह फूट-फूट कर रोया (उत्प० 12; गिनती 20; न्या० 17; दू०शमू० 11; लूका 22)।

यह देखकर आश्चर्यचकित नहीं होना चाहिए कि हममें पाप करने की क्षमता पायी जाती है। क्यों? क्योंकि मनुष्य यही पापी स्वभाव

लेकर पैदा हुआ है। परन्तु खुशखबरी यह है कि वंशानुक्रम से विरासत में मिली इस पाप-क्षमता को मसीह यीशु अपने क्रूस पर मौत के हवाले कर चुका है। अब वह अपनी पवित्र आत्मा की सामर्थ्य के द्वारा भलाई करने की अपनी अपार क्षमता प्रदान करता है। हमारी जिम्मेदारी सिर्फ उस पर आशा-भरोसा व विश्वास रखना है। अतः क्रूस पर पूर्ण किए गए कार्य के मायने-मतलब को समझने के द्वारा ही सच्ची आध्यात्मिक स्वतंत्रता व छुटकारे का रसास्वादन होता है। बहुत से विश्वासी पाप पर विजय हेतु बलवान बनने के लिए दुआ करते रहते हैं। लेकिन यह ईश्वरीय तरीका नहीं है। पाप की दासता से छुटकारा दिलाने के लिए ईश्वरीय तरीका हमें बलवान बना कर नहीं बल्कि हमारी दुर्बलता दर्शा कर हमें आत्मिक विजय-पथ पर ले जाता है। परमेश्वर हमारे पुराने मनुष्यत्व को बलवान बना कर नहीं बल्कि उसे क्रूसित करके हमें पाप की दासता से आजादी प्रदान करता है। हे विश्वासी जन, जैसे अपने पापीपन की बोझिल अवस्था में आपने यह पहचाना कि आपके बदले (दोष-दण्ड सह कर) मसीह क्रूस पर मरा, उसी प्रकार इस सच्चाई को जानना-पहचानना भी आध्यात्मिक हित में है कि 'मसीह के साथ हम भी (पुराना स्वभाव भी) मर गए (क्रूस पर चढ़ाया जा चुका है)।' रोमियों की पत्री के छठवें अध्याय में मसीह की मृत्यु के साथ विश्वासीजन के एकत्व एवं पहचान के बारम्बार जिक्र पर ध्यान दें। इतना ही नहीं, विश्वासी जन पाप, सांसारिकता एवं व्यवस्था-बन्धन के प्रति मृतक समान दर्शाया गया है। एम0जे0 स्टैन्फोर्ड के अनुसार : "मृत्यु से ही फलोत्पादन होता है। स्वार्थपरक या अहं-केन्द्रित जीवन सदैव फलहीन एवं एकाकी होता है। सच्ची विजय का मार्ग क्रूसित जीवन-मार्ग है। मसीही जगत के इतिहास में आदरणीय नाम उन्हीं के होते हैं जिनका स्वार्थपरक, अहं-केन्द्रित या

सांसारिक, शारीरिक अथवा पुराना जीवन स्वभाव उनके कब्र में जाने से पहले ही मर चुका होता है" (दू०कुरि० 12:9-10; यशा० 40:29; रोमि० 6:2-13; कुलु० 2:20; 3:1-3; गला० 6:14; रोमि० 7:4)।

पाप की सत्ता की अधीनता से आजाद होने का अन्य कोई कारगर उपाय नहीं है। मसीह के साथ हमारे पुराने मनुष्यत्व की मृत्यु सम्बन्धी बाइबेलीय सच्चाई से मुकरना (अविश्वास करना) दोषपूर्ण, निराशापूर्ण एवं आत्मिक पराजय रूपी संघर्ष, स्व-प्रयास और निष्फल जीवन में लुढ़कना है। संत पौलुस की पत्रियों से सुस्पष्ट है कि उसका सम्पूर्ण मसीही जीवन इस सच्चाई के ज्ञान पर टिका रहा कि वह मसीह के साथ क्रूसित हो चुका है। पवित्र मसीही जीवन के संदर्भ में रोमियों की पत्री का छठवाँ अध्याय एवं यूहन्ना 8:32 महत्वपूर्ण है।

समर्पण

‘समर्पण’ के बारे में बहुत से मसीही गलतफहमी का शिकार होते हैं, और अनेक बार इसका गलत अर्थ लगाया जाता है। समर्पण के सम्बन्ध में रोमियों के छठवें अध्याय में अनेक बार सौंपना शब्द इस्तेमाल किया गया है। बहुत से विश्वासी यह सोचते हैं कि हमें स्व-प्रयास द्वारा अपने आपको परमेश्वर की सेवा के लिए समर्पित या अर्पित करना है। वैसे भी समर्पण की परिभाषा है - किसी वस्तु या व्यक्ति को पवित्र सेवा के लिए अलग करना। या यूँ कहें कि परमेश्वर के इस्तेमाल के लिए पृथक करना। बहरहाल पवित्रीकरण सम्बन्धी बाइबेलीय शिक्षा के प्रति अपनी अज्ञानता के कारण बहुत से विश्वासी “मसीह में बने रहने” सम्बन्धी यूहन्ना की पत्री के अध्याय पन्द्रह की अनदेखी करते हुए रोमियों की पत्री के अध्याय बारह को लेकर स्वयं को “समर्पित” करने के असफल प्रयास में लगे रहते हैं। किन्तु सच्चे अर्पण या समर्पण को समझने के लिए **पवित्रीकरण** के बारे में सही समझ बहुत जरूरी है। **पवित्र** किए जाने का बाइबेलीय अर्थ है, परमेश्वर का होने के लिए तथा उसके द्वारा इस्तेमाल किए जाने हेतु अलग किया जाना। हमारा पवित्रीकरण हमारे उद्धार के समय हुआ, और यह परमेश्वर की इच्छा के अनुसार उसी का काम है। पवित्रशास्त्र में कई पदों में इस शब्द का प्रयोग किया गया है (उत्प० 2:3; यूह० 17:17-19; प०कुरि० 1:2; प०थिस्स० 4:3 एवं 5:23-24)।

“समर्पण” की परिभाषा से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि इसमें हमारी ओर से कुछ किया जाना (क्रियाशीलता) जरूरी है - ‘परमेश्वर

के उपयोग हेतु अर्पण'। परन्तु, जैसा कि इस अध्याय में अनेक बार इंगित किया जा चुका है कि विश्वासीजन की 'एकमात्र जिम्मेदारी परमेश्वर द्वारा पूर्ण किए गये कार्य पर आशा-भरोसा व विश्वास करना' है; अतः बाइबेलीय समर्पण विश्वास का फल मात्र है। दूसरे शब्दों में, अर्पण, समर्पण या सौंपना तो परमेश्वर-कृत या परमेश्वर-प्रदत्त पवित्रीकरण (ईश्वरीय इस्तेमाल के लिए पृथक किए गये पात्र) पर विश्वास व भरोसे का स्वाभाविक प्रत्युत्तर है। समर्पण हमें कुछ करने का तकाजा नहीं देता बल्कि सिर्फ हमारे पवित्रीकरण पर विश्वास-विश्राम का बुलावा। परमेश्वर की दृष्टि में हमारे उद्धार के समय (सैद्धान्तिक तौर पर) हमारा पवित्रीकरण हो चुका है (अर्थात् उसके होने के लिए तथा उसके द्वारा इस्तेमाल के लिए हम पृथक किए गये)। इस सिद्धान्त व सच्चाई को जानने, मानने एवं इसमें स्थिर बने रहने पर पवित्र आत्मा हमें परमेश्वर के उपयोग हेतु अपना जीवन सौंपने की इच्छा, शक्ति एवं मनोवृत्ति प्रदान करता है (याकूब 2:18; फिलि0 2:13)।

रोमियों की पत्री के छठवें अध्याय में जानना, समझना (मानना) एवं सौंपना क्रमिक हैं। सबसे पहला चरण है : **जानना**। जैसे हमारे धर्मी (निर्दोष) ठहराये जाने के लिए हमारे बदले मसीह की मृत्यु का ज्ञान जरूरी है, उसी प्रकार हमारे पवित्र किए जाने (पवित्रीकरण - **sanctification**) के लिए मसीह के साथ हमारे क्रूसित होने का ज्ञान भी आवश्यक है। दूसरा चरण, अर्थात् **समझना** या मानना सच्चे बाइबेल-सम्मत ज्ञान का स्वाभाविक प्रत्युत्तर है, तथा तीसरा चरण, **सौंपना** इस ईश्वरीय कार्यक्रम का अंतफल है। इस क्रमिक विकास में 'सौंपना' विश्वासीजन के कर्म-प्रयास का काम नहीं है। यह तो एक स्वाभाविक परिणाम है। इस अंतिम चरण के महत्व को

पौलुस ने रोमियों 12:1 में पुनः रेखांकित किया है (रोमि0 6:1-13 एवं 12:1)।

हमारी कृतज्ञता यानि एहसानमन्दी और प्रेम आत्मिक मसीही जीवन जीने हेतु आवश्यक सामर्थ्य प्रदान नहीं कर सकते। प्रायः कुछ इस प्रकार के उपदेश सुनने को मिलते हैं : “प्रभु यीशु ने आपके लिए सब कुछ दे दिया, अब इसके बदले कम से कम आप अपना सब कुछ उसे समर्पित कर दें”। इस प्रकार मसीह द्वारा किए गये कार्य के प्रति प्रेम एवं एहसानमन्दी के आधार पर हमें अपने आपको अर्पित, समर्पित या उसके लिए दे देने के लिए प्रोत्साहित या विवश किया जाता है (दू0कुरि0 5:14)। लेकिन वास्तविकता यह है कि हमारा प्रेम एवं एहसानमन्दी (रूपी स्व-प्रयास) मसीही जीवन के लिए आवश्यक ईंधन-शक्ति प्रदान नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में प्रभु के दास श्री एण्ड्र्यू मॅरी के इस कथन पर विचार करें : “प्रेमी प्रवृत्ति से मसीही जीवन जीना तथा प्रभु की सेवा करना महत्वपूर्ण एवं भली बात है। किन्तु यह (मसीही जीवन एवं सेवा के लिए) पर्याप्त नहीं है, विशेषकर इसलिए कि परमेश्वर के लोगों को प्रेरणा प्रदान करने का यह ईश्वरीय तरीका नहीं है”। इस महत्वपूर्ण तथ्य की अनदेखी के कारण किसी विश्वासी के जीवन या सेवकाई में असफलता आने पर प्रायः यह कहा (या दोष लगाया) जाता है कि प्रभु के प्रति अपना प्रेम खो देने से इस व्यक्ति की यह दशा हुयी है। इसीलिए हम विकासशील मसीहियों को अपने आत्मिक पथ पर प्रेम-भाव (दू0कुरि0 5:14-15) से परे जीवन-प्रदायी प्रवृत्ति से प्रेरणा पाना आवश्यक है (फिलि0 1:21)।

इसके अतिरिक्त यह भी सच है कि केवल प्रार्थना ही मसीही जीवन को जीने की सामर्थ्य प्रदान नहीं कर सकती। बेशक, प्रार्थना

के महत्व की अनदेखी नहीं की जा सकती, यह अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु मसीही जीवन के लिए प्रार्थना ही पर्याप्त नहीं है। दक्षिण-पूर्व एशिया में मिशनरी सेवा के लिए काम करते समय मैं और मेरी पत्नी अपने प्रभु के प्रति उन सब बातों के लिए अत्यन्त आभारी थे जो उसने हमारे लिए किए थे। हम प्रेमपूर्ण कृतज्ञता के साथ प्रत्येक दिन कई घंटे तक प्रार्थना करते थे। लेकिन अन्ततः हमारे जीवन में सेवा के लिए आवश्यक शक्ति-सामर्थ्य नहीं रही। पवित्र बाइबल के अनुसार मसीही अर्पण, समर्पण या सौंपने की कुँजी हमारा अपना कर्म-प्रयास, प्रेम व भक्ति या अन्य कोई युक्ति नहीं (अर्थात् “अब मैं नहीं” बल्कि “मसीह मुझमें जीवित”) है (गला0 2:20; फिलि0 1:21;2:13)। बहुत से मसीही अपने प्रभु परमेश्वर को वह अर्पित, समर्पित करने में लगे रहते हैं जिसे उसने बिल्कुल अस्वीकार कर दिया है - अर्थात् अपना अहं-जीवन या पुराना मनुष्यत्व। ऐसे लोग यह सोचते हैं कि हम अपनी भक्ति-शक्ति व आत्मिक दिखने वाली युक्ति-युगाड से पुराने मनुष्यत्व में सुधार ला कर ईश्वर की सेवा करेंगे। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारा अहंकारपूर्ण पुराना मनुष्यत्व (अहं-जीवन) मरम्मत योग्य नहीं है।

इस विषय के बारे में बाइबल के पुराना नियम के कुछेक उदाहरणों का जिक्र किया जाना भी सहायक होगा। स्मरण रहे कि पुराना नियम की बातें हमें सीख, शिक्षा, उदाहरण और चेतावनी के लिए दी गई हैं (रोमि0 15:4; प0कुरि0 10:6,11)। अब पुराना नियम के इन प्रभु-भक्त लोगों के बारे में ध्यान दीजिए जिन्होंने स्वयं को परमेश्वर की सेवा के लिए समर्पित करने की भरपूर कोशिश की, मगर परिणाम? यहाँ दिए गये पदों के सावधानीपूर्वक अध्ययन से परिणाम सुस्पष्ट हैं। सबसे पहले नूह के बारे में विचार कीजिए। उत्पत्ति 6:5-8 में प्रभु परमेश्वर द्वारा उसके विषय में कही गयी बात

पर ध्यान दें। किन्तु आगे चल कर उत्पत्ति 9:20-21 को देखिए। इसके बाद दू0 इतिहास 14:1-5 के आधार पर आसा नामक राजा के अच्छे कामों के बारे में विचार करें। लेकिन आगे चलकर उसने क्या किया (दू0इति0 16:7-12)? स्वयं सोचिए। अब राजा सुलेमान के विषय में ध्यान दीजिए (प0राजा 10:1-6,23-24)। लेकिन आगे चलकर उसका जीवन-व्यवहार कैसा रहा (प0राजा 11:1-10,14)? इतना ही नहीं, बल्कि नया नियम से प्रभु यीशु के चेलों के बारे में सोचिए (मत्ती 26:30-56)। प्रभु के चले भी स्वयं को ठीक से अर्पित-समर्पित करने में असमर्थ रहे। हाँ, प्रभु उनके निकट था, तब भी वे ऐसा नहीं कर सके।

इस संदर्भ में दूसरा कुरिन्थियों 10:18 के शारीरिकतापूर्ण अहंकार सम्बन्धी पौलुस की टिप्पणी भी रोचक है। हमारी मानवीय, शारीरिक या प्राकृतिक सोच तथा अर्पण-समर्पण सम्बन्धी माडर्न शिक्षा स्व-प्रयास द्वारा स्वयं को प्रभु के लिए अर्पित करना सिखाती है, और रोमियों 6:6 के मृत्यु दंड से कतराती है। परन्तु संत पौलुस द्वारा गलातियों 2:20 में प्रस्तुत साक्षी नजरन्दाज़ नहीं की जा सकती : "मैं मसीह के साथ क्रूस पर चढ़ाया गया हूँ। अब मैं जीवित नहीं रहा, परन्तु मसीह मुझमें जीवित है"। रोचक है कि पुराना नियम काल के याजकों को अपनी सेवकाई के लिए अभिषिक्त करते समय प्रभु परमेश्वर ने मूसा को निर्देश दिया कि उनके हेतु बलि किए गये मेढ़े के लहू को दाहिने कान, दाहिने हाथ व दाहिने पैर के अंगूठों पर तथा उनके वस्त्रों व उनके ऊपर छिड़का जाए। इस प्रकार उनके सम्पूर्ण शरीर पर मृत्यु का नाम लिखा था। कहने का तात्पर्य यह है कि उनका समर्पण केवल मृत्यु के माध्यम से ही सम्भव हुआ (लैव्य0 8:22-30)।

सच्चे बाइबेलीय समर्पण सम्बन्धी बात रोमियों 6:13 में ही लिपिबद्ध है। इस सम्बन्ध में सबसे प्रमुख बात इस पद में ही पायी जाती है : "अपने आपको मृतकों में से जीवित जानकर"। यहाँ पौलुस यह सिखा रहा है कि हमें अपने आपको "मृतकों में से जीवित जानकर", परमेश्वर को सौंपना है। इस सम्बन्ध में रोमियों 6:7 की बात को भी याद रखना है कि "जो मर गया, वह पाप (की गुलामी) से छूटकर निर्दोष ठहरा"। अतएव पुरानी सृष्टि का कुछ भी अर्पित, समर्पित या अभिषिक्त नहीं किया जा सकता। केवल वही समर्पित किया जा सकता है जो मृत्यु से होकर पुनरुत्थान में प्रवेश कर चुका है। यह ज्ञान-समझ हमें सच्चे समर्पण की ओर ले जाती है (प0कुरि0 15:9-10)। अतः मसीही जीवन यानि ख्रीस्त-जीवन की शुरुआत रोमियों 12:1 से होती है - अपने आपको केवल सौंपने, प्रस्तुत करने व पेश करने से। इस प्रकार स्वयं को परमेश्वर के समक्ष प्रस्तुत करके जब हम उस पर विश्वास-विश्राम करते हैं, तो वह शेष कार्य स्वयं पूर्ण करता है (फिलि0 2:13)। वह अपनी सुइच्छा के अनुसार (हमारी इच्छा के अनुसार नहीं) जीवन बिताने की भूख-प्यास एवं सामर्थ्य प्रदान करता है।

अहं

अक्सर हम सब ऐसे विश्वासियों से मिलते हैं जो बहुत बुद्धिमान दिखायी देते हैं। या यूँ कहें कि ऐसे लोग ज्यादा चतुर, होशियार, बलवान और कभी-कभी तो धर्मी जैसे दिखते हैं। प्रायः उनके धर्मोपन में अहंकार की गंध आती है। पवित्र आत्मा द्वारा हमारे भयावह अहं-केन्द्रित जीवन का प्रकटन आत्मिक विकास का एक महत्वपूर्ण अंग है। अहं-जीवन वह भ्रष्ट, शारीरिक, स्वार्थी एवं संसारिक जीवन है जिसे हमने आदम से विरासत में पाया है। इस अहं-केन्द्रित जीवन में, परमेश्वर की दृष्टि में, “कुछ भी भला वास नहीं करता”। हाँ, यह एक दूसरी बात है कि प्रत्येक मसीही इस सच्चाई की पहचान तक नहीं पहुँचता कि हमारे भीतर एक स्वार्थ-केन्द्रित पाप-स्वभाव है जो सदैव बुराई की ओर ही खींचना चाहता है (लूका 9:23-24; 14:26-27; गला0 5:19-21; रोमि0 7:18-24)।

उद्धार-विहीन व्यक्ति तथा किसी शारीरिक मसीही के जीवन बिताने का आधार लगभग एक सा होता है। इन दोनों प्रकार के लोग स्व-इच्छा, स्व-लाभ, स्व-प्रेम, स्व-निर्भरता और स्व-प्रशंसा को ही अपने जीवन-व्यवहार का आधार बनाए रहते हैं। उनके जीवन का केन्द्र-बिन्दु उनका ‘स्वार्थ या मैं’ ही होता है। स्वार्थ-केन्द्रित होना, स्व-प्रयास पर ही भरोसा रखना, स्व-अभिमान (घमण्ड) से ग्रस्त होना, सिर्फ अपनी तृप्ति, सिर्फ अपने सुख, सिर्फ अपने लाभ व सिर्फ अपनी सुरक्षा व सिर्फ अपने प्रति सहृदयता का आकांक्षी होना, स्व-पर्याप्तता, स्व-विवेक, यहाँ तक कि स्व-धार्मिकता का ही गुणगान

करना इनकी दिनचर्या के प्रमुख लक्षण होते हैं। परन्तु संसार के सबसे जरूरतमंद मसीही वह विश्वासी नहीं हैं जो अपने अहं-केन्द्रित जीवन के कारण या शारीरिकता के कारण संघर्ष से होकर गुजर रहे हैं; बल्कि सबसे जरूरतमंद मसीही तो वे विश्वासी हैं जो अपनी शारीरिकता के संघर्ष का अनुभव नहीं करते और इसके खतरों के प्रति बेखबरी के साथ जिन्दगी जी रहे हैं। कोई भी विश्वासी केवल मसीह को अपने जीवन का सच्चा आधार तब तक नहीं जान-समझ पाता जब तक कि वह अपने स्वार्थ-केन्द्रित जीवन की भयावह भ्रष्टता को नहीं पहचानता। जैसे उद्धार की दिशा में बढ़ने का पहला महत्वपूर्ण कदम इस सच्चाई को पहचानना है कि हम पापी हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक विकास, परिपक्वता, पवित्रीकरण या मसीह की शिष्यता में बढ़ने का प्रमुख कदम पुराने आदम-स्वभाव या शारीरिकता की भयावह भ्रष्टता को पहचानना है (रोमि0 7:24)।

पवित्रशास्त्र में दो प्रकार के मसीहियों की तस्वीर पायी जाती है - अहं-केन्द्रित (या शारीरिक) मसीही और परमेश्वर-केन्द्रित (या आध्यात्मिक) मसीही। हम किस प्रकार के मसीही विश्वासी हैं? अहं-केन्द्रित या शारीरिक मसीही की पहचान के बारे में कुछ और बातों (लक्षण) पर विचार करें। शारीरिक मसीही के बारे में पहली खास बात यह देखने को मिलती है कि उसके जीवन में प्रायः लगातार संघर्ष ही पाया जाता है - आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का संघर्ष। स्मरण रहे कि विश्वासी के जीवन पर दो प्रकार के स्वभाव (पवित्र आत्मा एवं शारीरिकता) नियंत्रण करना चाहते हैं। कभी-कभी ऐसा मसीही पवित्र आत्मा के नियंत्रण में होता है और ऐसे वक्त प्रेम, आनन्द एवं शांति जैसे आत्मिक फलों का रसास्वादन करता है। लेकिन प्रायः वह शारीरिकता के कब्जे में रहता है और इसके कार्यों का पवित्रशास्त्र में स्पष्ट वर्णन है। इस प्रकार का

आन्तरिक संघर्ष बाहरी संघर्ष के रूप में भी प्रकट होता है (रोमि0 7:22-23; गला0 5:17-23; प0कुरि0 3:1-4; ती0यूह0 9:10)।

शारीरिक मसीही का **दूसरा** प्रमुख लक्षण उसके जीवन में आने वाली बारम्बार असफलता या पराजय है। रोमियों की पत्नी के सातवें अध्याय के अध्ययन से स्पष्ट है कि ऐसा विश्वासी पवित्र एवं धर्मी जीवन जीने की आकांक्षा के साथ स्व-प्रयास करता रहता है; किन्तु उसका यह स्व-प्रयास पराजय एवं असफलता का शिकार होता रहता है। इसका एक प्रमाण हम अपने जीवन की ओर दृष्टि डालने से प्राप्त कर सकते हैं। कितनी बार हमने यह संकल्प किया कि चिंता-समान चिंता को अब त्याग देंगे? कितनी बार हमने संकल्प किया कि अब गुस्सा नहीं करेंगे, धीरज नहीं खोएंगे? हमने कितनी बार गुस्सा किया, अहंकारपूर्ण और स्वार्थपूर्ण व्यवहार किया? हमने कितनी बार बाइबल-मनन, प्रार्थना और सुसमाचार-साक्षी देने में लापरवाही की है (मर0 14:26-38 व 50; रोमि0 7:15)।

शारीरिक मसीही की **तीसरी** प्रमुख पहचान उसका बचकानापन होता है। ऐसे मसीही आत्मिक तौर पर हमेशा अविकसित, अव्यस्क या बालकपन में ही दिखते हैं। बेशक, किसी दम्पति के संतान पैदा होना अत्यन्त सुखद होता है। लेकिन यदि उनका बच्चा वर्षों तक शिशुवत एवं अविकसित ही रहे तो माता-पिता कितने दुःखित होंगे? ऐसे शिशु या बालक की क्या पहचान होती है - वह असहाय एवं दूसरों पर आश्रित होता है, ऐसा बच्चा सदैव अपनी सेवा के लिए सबका ध्यान अपनी ओर ही चाहता है, ऐसा बच्चा महसूसियत के क्षेत्र में जीता है अर्थात् सब कुछ ठीक-ठाक होने पर खुश, नहीं तो जरा सी भी परेशानी या उसकी इच्छा-पूर्ति में देरी होने पर हो-हल्ला व रोना-पीटना। ध्यान दें, ऐसे बच्चे सदैव दूसरे पर निर्भर रहते हैं। इसी प्रकार बहुत से मसीहियों का आत्मिक

विकास से दूर रहने का एक कारण यह है कि वे अपने आत्मिक पालन-पोषण के लिए दूसरे मनुष्यों की शिक्षा की ओर ही देखते रहते हैं, न कि प्रभु के पवित्र आत्मा की ओर। ऐसे लोगों में परजीवी कीड़ों की तरह दूसरों द्वारा खाये-पचाये अपूर्ण भोजन के सहारे जीने की आदत हो जाती है। एक समय मैं भी ऐसा ही था(प0कुरि0 3:1-2; इब्रा0 5:12-14)।

शारीरकता की **चौथी** पहचान उसकी निष्फलता होती है। यूहन्ना के पन्द्रहवें अध्याय का दूसरा पद फल लगने की बात करता है। शारीरिक मसीही के जीवन-आचरण में पवित्र आत्मा के फलों का अभाव होता है। उसके जीवन में सच्ची सेवकाई की सफलता का भी अभाव होता है। हाँ, क्रिया-कलाप व धर्माडम्बर की धुन दिखायी देती है (यूह0 15:2; रोमि0 10:2)।

शारीरिक मसीही का **पांचवाँ** लक्षण दुचित्तापन एवं पाखण्डीपन होता है। ऐसे मसीही कहते कुछ हैं और करते कुछ और हैं। इनके जीवन में मत्ती रचित सुसमाचार के 23:1-28 तथा याकूब 1:8 में लिखी गयी बातों के लक्षण हावी होते हैं।

शारीरिक मसीही की **छठवीं** पहचान उसका विद्रोहपूर्ण घमण्ड है। इस सम्बन्ध में निर्गमन 8:4-10 पढ़ें। रोचक एवं आश्चर्यजनक है कि राजा फिरौन ने उन मेंढकों के आक्रमण को तत्काल दूर करने हेतु प्रार्थना की माँग नहीं किया। दसवें पद के अनुसार, फिरौन क्यों उन मेंढकों की मार एक और दिन तक सहना चाहा? हाँ, फिरौन अविश्वासी था और आप यह कह सकते हैं कि यह कोई अच्छा उदाहरण नहीं है। लेकिन जब हम अपने शारीरकतापूर्ण जीवन-अनुभवों पर विचार करते हैं तो अपने आपको फिरौन से ज्यादा भिन्न नहीं पाते। हमारे शारीरकतापूर्ण जीवन में

उपर्युक्त सभी लक्षणों के अतिरिक्त विद्रोहपूर्ण अहंकार का कब्जा होता है। कुछ उसी प्रकार का विद्रोही अहंकार जैसा कि फिरौन में था (अरे, ऊपर वाले की मार कोई खास बात नहीं है, कुछ दिन और सह लेंगे, लेकिन उसकी बात पर ध्यान नहीं देंगे)। इस प्रकार का विद्रोही अहंकार शारीरिक मसीही में विद्रोह के रूप में कुछ उसी प्रकार उभरता है जैसे कि लूका 4:33-35 एवं मरकुस 9:25-26 में अशुद्ध आत्मा ने प्रभु की बात के प्रति ढिंढाई दर्शायी। श्री जे0सी0 मेटकॉफ के अनुसार : “अपने अनुग्रह-पथ पर प्रगति कराने से पहले प्रभु परमेश्वर हमें हमारे निरा पापीपन एवं आवश्यकताग्रस्तता का दर्शन कराता है”। अतः जिस विश्वासी के जीवन में असफलता एवं आत्मिक संघर्ष चल रहा है, उसके जीवन में (इन बातों के माध्यम से) प्रभु अपना काम कर रहा है। परमेश्वर हजार तरीके से हमें हमारे निरे पापीपन का दर्शन कराता है यानि हमारी शारीरिकता का भंडाफोड़ करता है। क्योंकि इसमें (शारीरिकता में) “कुछ भी भला वास नहीं करता”। हमारे आत्मिक परिपक्वता की ओर बढ़ने से पूर्व इसका पूर्ण पर्दाफाश होना आवश्यक है (इब्रा0 12:5-6; भज0 66:10-12; रोमि0 7:18)।

अहं-त्याग

इससे पीछे के पन्नों में "आत्मिक विकास के सिद्धान्त" सम्बन्धी दस खास बातों के बारे में हमने विचार किया : विश्वास, समय, स्वीकार्यता, उद्देश्य, तैयारी, उसमें परिपूर्ण, अपनाना, पहचान, समर्पण एवं अहं। इस अध्याय का शीर्षक अहं-त्याग है। हम मसीही लोग दो में से किसी एक शक्ति से प्रभावित एवं अन्ततः नियंत्रित होते हैं - या तो अहं-जीवन (पुराना मनुष्यत्व या शारीरिकता) द्वारा या फिर "मसीह यीशु में जीवन की आत्मा" द्वारा। पहली शक्ति हमारे जीवन को नारकीय बना देगी, परन्तु दूसरी शक्ति इसे स्वर्गमय कर देगी। पिछले पाठ में दर्शाया गया कि अहं-केन्द्रित जीवन अर्थात् शारीरिकता आदम से विरासत में मिली है। यह स्वार्थी जीवन कुरूप, भयावह और जन्मजात होता है। श्री वाइन् नामक मसीही विद्वान ने शारीरिकता (या फ्लेश) को इस प्रकार परिभाषित किया है : "परमेश्वर की आत्मा बगैर पाप-नियंत्रित मानव स्वभाव"। यह पहले भी बताया जा चुका है कि परमेश्वर की दृष्टि में शारीरिकता में "कुछ भी भला वास नहीं करता"। ऐसे मानव स्वभाव का सर्वोत्तम कार्य भी पवित्र परमेश्वर के समक्ष अस्वीकृत है। फिलिप्पियों की पत्री में पौलुस ने अपनी शारीरिकता का उल्लेख किया है - शिक्षित शारीरिकता, सुसंस्कृत शारीरिकता, नैतिक एवं मजहबी शारीरिकता। किन्तु यह सब परमेश्वर के समक्ष पूरी तरह से अस्वीकार्य था। रोचक तथ्य यह है कि पौलुस की तरह अपनी शारीरिकता की भ्रष्टता को स्वीकार करने वाले बहुत कम मसीही पाए जाते हैं - ऐसे मसीही जो यह

जानते हैं कि उनका अहं उनके जीवन को कंट्रोल करता है। शारीरिकता या अहं-केन्द्रित जीवन की चतुराई, धोखेबाजी एवं चालाकी भरी कार्य-विधि के प्रति विश्वासियों में एक प्रकार का अन्धापन पाया जाता है। यदि हमारा जीवन हत्या, चोरी, व्यभिचार जैसे भयंकर कुकर्म में लिप्त है, तो हम अपने आपको अच्छा मानकर स्व-धर्मीपन के अहंकार में आराम करता पाते हैं। ऐसे वक्त हम यह भूल जाते हैं कि परमेश्वर की दृष्टि में छोटी-छोटी बुराईयाँ (जैसे कि, किसी की बदनामी करना, चुगुलखोरी, चालाकी व झूठ बोलना, छल-कपट, अधैर्य, अविश्वासपूर्ण चिंता इत्यादि) भी अप्रिय, अस्वीकार्य एवं घृणित हैं। अतः कोई ताज्जुब नहीं कि बहुत कम मसीही रोमियों 7:24 की सच्चाई की पहचान तक पहुंचते दिखते हैं। एक बार मार्टिन लूथर ने यह कहा : “पोप के सब सहकर्मियों से अधिक मैं अपने हृदय से भयभीत हूँ। मेरे भीतर ‘अहं’ रूपी खतरनाक पोप बैठा है” (रोमि0 7:18,24; फिलि0 3:4-6; रोमि0 8:8)।

मनुष्य अनेक तरीके से “अहं” को सत्ताच्युत (अपदस्थ) करने का प्रयास करता है। लेकिन मनुष्य का तरीका ईश्वरीय तरीका नहीं है। मनुष्य के यह स्व-प्रयास कुछ इस प्रकार हैं : उपभोग की कुछ वस्तुओं को त्यागना (इन्द्रिय दमन), धार्मिक मनन-चिंतन द्वारा, प्रशिक्षण द्वारा, जागृति सभाओं द्वारा, धार्मिक सेवकाई में लगने के द्वारा, शुद्धिकरण या पाप-अंगीकरण द्वारा और नये-नये धर्मिक अनुभवों द्वारा (इत्यादि)। कहने का मतलब यह है कि कुछ लोग खाने-पीने जैसी कुछ वस्तुओं को त्यागकर अर्थात् उपवास वगैरह के द्वारा अपने स्वार्थी जीवन पर विजय पाने का असफल प्रयास करते हैं। यह ‘शरीर’ द्वारा ‘शरीर’ पर विजय पाने की कोशिश जैसा असफल प्रयास होता है। अन्य कुछ लोग ज्यादा चर्च जाने के द्वारा,

ज्यादा बाइबल पढ़ने के द्वारा या फिर ज्यादा प्रार्थना रूपी क्रिया-कलाप द्वारा अपने अहं पर नियंत्रण एवं विजय पाने की कोशिश करते हैं। लेकिन शारीरिकता पर सफल विजय का यह भी ईश्वरीय उपाय नहीं है। अनेक लोग अच्छी मसीही शिक्षा, अच्छे मसीही परिवार, अच्छे मसीही प्रशिक्षण एवं अच्छी मसीही कलीसियाओं द्वारा अपनी शारीरिकता यानि आदम-स्वभाव पर विजय पाने की कोशिश करते हैं। किन्तु शरीर पर विजय का यह भी ईश्वरीय समाधान नहीं है। अन्य कुछ लोग जागृति सभाओं द्वारा बारम्बार समर्पण एवं नये संकल्प द्वारा अपने अहं-जीवन पर नियंत्रण पाना चाहते हैं, और यह भी असफल साबित होता है। दूसरे बहुत से लोग चर्च-सेवा के कामों में लग कर बेहतर जीवन-स्वभाव की आशा में धार्मिक गतिविधियों में लगे रहते हैं। परन्तु इस प्रकार उनका स्वार्थी जीवन-स्वभाव बेहतर बनने के बजाय अपनी हरकतों से बाज नहीं आता। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारा स्वार्थी जीवन स्वार्थ ही पैदा करेगा। अन्य कुछ लोग बारम्बार पाप-अंगीकार के द्वारा स्वार्थी जीवन से छुटकारा पाने में लगे रहते हैं, लेकिन अक्सर इसमें पाप-कर्म का अंगीकार ही शामिल होता है, और पाप-स्रोत अर्थात् हमारे पुराने आदम स्वभाव या शारीरिकता की अनदेखी कर दी जाती है। उपर्युक्त तमाम तरीकों के द्वारा मनुष्य अपनी शारीरिकता पर विजय पाने का असफल प्रयास करता है (यूह0 3:6, 6:63; फिलि0 3:3; प0यूह0 1:9)।

शारीरिकता पर विजय पाने का ईश्वरीय तरीका क्या है? अहं-केन्द्रित जीवन रूपी समस्या के समाधान का परमेश्वर के पास सिर्फ एक ही तरीका है : कलवरी के क्रूस पर इस समस्या का पूर्ण एवं अंतिम समाधान हुआ। वहाँ पर हमारा पुराना आदम-स्वभाव क्रूस पर चढ़ाया गया, जिससे कि अब हम पाप की दासता में जीवन न

बिताएं। जरा सोचिए! हमें अहं, शारीरिकता या पाप-स्वभाव जन्मजात मिला है, और तर्कसंगत है कि यह मृत्यु के द्वारा ही जाएगा। मसीह की मृत्यु द्वारा प्रभु परमेश्वर ने इस समस्या के समाधान-कार्य को पूरा कर दिया है। अब उसके काम पर विश्वास करना ही हमारा दायित्व है। शारीरिकता, अहं या पाप-स्वभाव सिर्फ क्रूस (मृत्यु) के वश में होगा, न कि आत्म-त्याग, आत्म-नियंत्रण, बेदारी, संकल्प, मसीही क्रिया-कलाप या पाप-अंगीकार के। पवित्रशास्त्र की घोषणा है कि हमारा पाप-स्वभाव मसीह के साथ क्रूस पर चढ़ाया जा चुका है। शारीरिकता की समस्या का ईश्वरीय समाधान यही है (यशा० 55:8-9; लूका 9:23; लूका 14:27; रोमि० 6:6,14; गला० 2:20)।

मृत्यु बगैर फलवान जीवन सम्भव नहीं है। "मैं तुमसे सच सच कहता हूँ कि जब तक गेहूँ का दाना भूमि में पड़ कर मर नहीं जाता, वह अकेला रहता है, परन्तु यदि मर जाता है तो बहुत फल लाता है"। प्रभु यीशु मसीह अपने इस कथन में प्रकृति एवं बीज के उदाहरण द्वारा यह आध्यात्मिक सत्य समझ रहा है कि मृत्यु बगैर फलवन्त जीवन सम्भव नहीं है। "जो कुछ तू बोता है जब तक वह मर न जाए जिलाया नहीं जाता"। संत पौलुस के इन शब्दों से भी यही संदेश मिलता है। मसीही जीवन का स्रोत ही मृत्यु है। अतः हमारे नये जीवन का विकास हमारे पुराने जीवन की कब्र से आरम्भ होता है। मसीही जीवन के संदर्भ में पुनरुत्थान का यह सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है। यह समस्त बाइबेलीय सिद्धान्तों में से एक प्रमुख सिद्धान्त है, और विश्वासी के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोगी है (यूहन्ना 12:23-24; प०कुरि० 15:36; दू०कुरि० 7:3)।

संसार का तरीका हमें यह सिखाता है कि साहसी व बलवान बन कर अपने अधिकार के लिए संघर्ष करो, अपने अहं पर भरोसा

रख कर स्व-अभिमान करो, अपनी आवाज को अपने अधिकारों के लिए बुलन्द करो, स्वयं अपनी मदद करते हुए ऊपर उठो (इत्यादि)। परन्तु परमेश्वर का यह मार्ग हमें यह सिखाता है कि वह उनकी मदद करता है जो उसी पर आशा-भरोसा व विश्वास रखते हैं। हमारी शारीरिकता या अहं-केन्द्रित पाप-स्वभाव के लिए प्रभु परमेश्वर द्वारा किया गया अंतिम एवं पूर्ण उपाय कलवरी क्रूस ही है। शारीरिकता सिर्फ क्रूस के वश में आती है, हमारे किसी स्व-प्रयास या आत्म-त्याग के अधीन नहीं। मसीह के साथ सह-क्रूसित जीवन को समझना शारीरिकता पर विजय की कुंजी है। इसीलिए प्रभु के दास श्री जे० पेन्लेविस ने कहा है : “यदि विश्वासी जन मसीह के साथ अपनी मृत्यु को पहचानता नहीं, अंगीकार नहीं करता और अपनाता या व्यवहार में नहीं लाता, तब यह सुनिश्चित है कि उसके जीवन में उसका स्वार्थ (अहं, पुराना आदम-स्वभाव) ही अधिकार चला रहा है” (दू०कुरि० 12:9-10; यशा० 40:29; नीति० 29:23; रोमि० 7:24; यशा० 30:15; गला० 2:20)।

क्रूस

इस पाठ के विषय अर्थात् 'मसीह के क्रूस सम्बन्धी बातों' को समझना बाइबेलीय विचारों में से सम्भवतः सबसे कठिन विचार हो सकता है। लेखक एम0जे0 स्टैन्फोर्ड ने **आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्त** में यह लिखा है : "पवित्र आत्मा अपने वचन के अनमोल खजाने को जल्दबाजी या लापरवाही में नहीं खोलता। बाइबेल में लिखा है - 'सागर सागर को पुकारता है'। इसके लिए हमें तैयार होना जरूरी है; इसके लिए बहुत समय देना पड़ता है, अर्थात् प्रार्थना में, पवित्र वचन के गहन अध्ययन व मनन-चिंतन में, प्रभु का आकांक्षी होने में और सीखी बातों के व्यवहारिक अनुभव में। सच्ची आध्यात्मिक उन्नति अन्य किसी तरीके से नहीं आती, किन्तु आती अवश्य है। आत्मिक विकास की ओर उन्मुख विश्वासी के लिए क्रूस की सच्चाईयों को समझना एवं अपनाना उसके जीवन का सबसे कठिन पहलू होता है" (पृष्ठ 64)।

आइए, पवित्रशास्त्र से क्रूस सम्बन्धी कुछेक खास पदों पर ध्यान दें : **पहला कुरिन्थियों 1:17-18** : ध्यान दें कि उद्धार के सम्बन्ध में अविश्वासियों की दृष्टि में क्रूस मूर्खता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि मसीह के साथ सह-क्रूसित होने सम्बन्धी बाइबेलीय सच्चाई के संदर्भ में बहुत से विश्वासियों की दृष्टि में भी क्रूस मूर्खता जैसा लगता है। **इफिसियों 2:16** : इस पद में क्रूस को मेल-मिलाप का माध्यम दर्शाया गया है (कुलु0 1:20)। इसके बाद गलातियों 2:20 पर ध्यान दीजिए। क्रूस पर दो खास काम हुए - पहला काम यह कि

हमारे पाप का दोष-दण्ड पूर्णरूपेण चुकता करने के लिए प्रभु यीशु अकेले क्रूस पर चढ़ाया गया। इस प्रकार वह (हमारा प्रतिनिधि) अपने साथ हमें भी क्रूस पर ले गया और परमेश्वर की दृष्टि में हम सब उसके साथ मर गए। यह दूसरा खास काम है जो उसके द्वारा क्रूस पर पूरा किया गया। अब, रोमियों 6:6,7 व 14 के अनुसार क्रूस पर ही हम पाप के अधिकार व अधीनता से छुड़ाए गये। कहने का मतलब यह है कि परमेश्वर की दृष्टि में मसीह के साथ हमारे पुराने मनुष्यत्व के सह-क्रूसित होने के द्वारा हम विश्वासी जन पाप के प्रति मर चुके हैं। गलातियों 6:14 के अनुसार (विरोधाभास के बावजूद), विश्वासीजन की दृष्टि में संसार क्रूसित हो चुका है और संसार की दृष्टि में विश्वासीजन क्रूस पर चढ़ाया जा चुका है। इस प्रकार, इन कुछेक पदों से क्रूस के महत्व के बारे में संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

यहाँ मनुष्य की रचना के बारे में विचार करना सहायक होगा कि उसे किस प्रकार की क्षमता के साथ रचा गया ताकि प्रभु परमेश्वर उसमें अपना कार्य कर सके। मनुष्य में एक प्रकार का त्रिएकत्व पाया जाता है - देह, प्राण और आत्मा। सबसे पहले **देह** के बारे में विचार करें। इसका प्रमुख उद्देश्य क्या है? यह तो हमारा केवल पार्थिव घर है, एक अस्थायी निवास, और हममें से कोई यह नहीं जानता कि यह कितने समय तक हमारा डेरा रहेगा। जब तक इस देह में हम हैं तब तक यह हमारे लिए संचार का एक साधन है। अपनी देह से हम सुन-बोल सकते हैं, हाथ मिला सकते हैं, हँस या रो सकते हैं या मारपीट कर सकते हैं (इत्यादि)। हमारी देह हमारे लिये परमेश्वर कृत संचार-साधन है। इसके अतिरिक्त, मनुष्य के पास अपने शरीर की गतिविधियों को कंट्रोल करने के लिए एक यन्त्रावली भी है, अर्थात् उसका **प्राण**। हमारे प्राण के भी तीन अंग हैं

- मन, इच्छा व भावनाएं। मनुष्य तथा सृष्टि के अन्य किसी जीव-जन्तु के बीच एक खास अन्तर है - उसकी "आत्मा" (अर्थात् परमेश्वर के साथ संचार-सम्पर्क रखने में सक्षम मानव-अंग)। परमेश्वर ने मनुष्य को "आत्मा" रूपी अंग इसलिए प्रदान किया है ताकि वह ईश्वरीय जीवन-सामर्थ्य के साथ संगति-सहभागिता रख सके। उद्धार पाने पर मनुष्य की आत्मा में ही पवित्र आत्मा का वास होता है। मनुष्य की आत्मा परमेश्वर के दीपक जैसी है। जैसे बिजली के बल्ब के लिए विद्युत या दीपक के लिए तेल है, वैसे ही मनुष्य की आत्मा के लिए पवित्र आत्मा है। पवित्र आत्मा विहीन मानव-आत्मा पतवार विहीन नौका जैसी हो जाती है, और हरेक प्रकार के कुप्रभाव का सरल शिकार बनने लगती है (प0थिस्स0 5:23; दू0कुरि0 5:1; नीति0 20:27; प0कुरि0 2:11)।

पाप में अपने पतन के पश्चात् मनुष्य अधार्मिकता का हथियार बन गया। अब वह परमेश्वर पर आश्रित रहने के बजाय अपने आप पर भरोसा करने लगा। परमेश्वर-केन्द्रित रहने के बजाय स्व-केन्द्रित हो गया। मनुष्य के इस पतन व परमेश्वर से अलगाव के लिए बाइबैल में अनेक शब्द इस्तेमाल किए गये हैं : पाप-स्वभाव, पुराना मनुष्यत्व, शरीर (शारीरिकता), पाप की शक्ति, अनर्थ रीति पर चलना, अन्धकारमय बुद्धि, परमेश्वर के जीवन से अलग, सुन्न, गन्दे काम करने के लिए लालायित, (बुराई करने के लिए आन्तरिक अभिलाषा)। इस प्रकार मनुष्य के परमेश्वर से अलग हो जाने पर, प्रभु परमेश्वर उससे दूर हट गया, और तब मनुष्य की व्यवहार-यंत्रावली (अर्थात् प्राण) से पवित्र आत्मा का सत्य-केन्द्रित नियंत्रण भी हट गया। इसके बाद झूठ के पिता शैतान ने मौके का भरपूर फायदा लेना शुरू कर दिया। उसने मानव व्यवहार नियंत्रण-अंग (प्राण) को भ्रष्ट करके दुरुपयोग करना आरम्भ किया। इस प्रकार मानव शरीर

धार्मिकता के बजाय अधर्म का साधन बन गया, और वह जानवर से भी बदतर हो गया। अब परमेश्वर-विहीन होने पर उसके जीवन में पाप-स्वभाव का राज-काज होने लगा, नतीजतन उसकी देह एवं उसके प्राण पर स्वयं शैतान का कंट्रोल सम्भव हो गया (इफि0 4:17-19; यूह0 8:44)।

आइए, अब हम बाइबल की एस्तर नामक पुस्तक की कुछ बातों पर विचार करें, किन्तु ऐसा करते समय यह स्मरण रखना जरूरी है कि पवित्रशास्त्र के पुराना नियम की बातें हमारे लिए शिक्षा, उदाहरण एवं चेतावनी हेतु हैं। पुराना नियम में प्रायः किसी आध्यात्मिक सच्चाई का भौतिक चित्रण पाया जाता है। एस्तर की पुस्तक में भी शारीरिकता के कामों का भौतिक उदाहरण दर्शाया गया है। शारीरिकता के कामों के चित्रण के अतिरिक्त एस्तर की पुस्तक में विश्वासी जन के लिए क्रूस के अभिप्राय की समझ के महत्व और आत्मा के चलाए चलने तथा परमेश्वर के लिए उपयोगी होने के महत्व को भी दर्शाया गया है (रोमि0 15:4; प0कुरि0 10:6,11)।

एस्तर के पहले अध्याय के पहले पद के अनुसार “राजा क्षयर्ष भारतवर्ष से इथियोपिया तक एक सौ सत्ताइस प्रान्तों पर शासन करता था”। अपने महल में राजा के रूप में क्षयर्ष, मनुष्य के प्राण का प्रतीक है क्योंकि अपने सारे साम्राज्य के लिए वही सारे निर्णय एवं नियम लागू करता था। उसके द्वारा शासित एक सौ सत्ताइस प्रदेशों वाला साम्राज्य मनुष्य के शरीर का प्रतीक है। राजा द्वारा स्थापित सारे नियम-निर्णय उन प्रान्तों में लागू होते थे यानि वे सभी प्रान्त इनसे प्रभावित होते थे। राजमहल में रहने वाले इस राजा के नियम-निर्णयों से बड़े शहर से लेकर छोटे गाँव तक के सभी लोगों के कार्य-व्यवहार प्रभावित होते थे। कुछ वैसे ही जैसे कि हम

अपने मन-मस्तिष्क से सोच-विचार करते हैं, अपने आवेग द्वारा महसूस करते हैं और अपनी इच्छा द्वारा कार्य-व्यवहार के लिए निर्णय लेते हैं।

एस्तर की पुस्तक का एक चरित्र अर्थात् हामान नामक व्यक्ति "शरीर" या शारीरिकता का प्रतीक है। जैसे हमारी देह में बुराई करने की प्रबल इच्छा (शक्ति) पायी जाती है जिसे नया नियम में "शरीर" या शारीरिकता (रोमि0 7:18) कहा जाता है, उसी प्रकार राजा क्षयर्ष के महल में यह हामान नामक व्यक्ति सभी न्याय-निर्णय की बातों को जानता था, यानि उस पर राजा का भरोसा था और वह महल के सारे राज-काज में असरदार व्यक्ति था। **एस्तर** की पुस्तक के शुरु से ही इस व्यक्ति के बारे में तथा राज-काज में इसकी भूमिका की बात स्पष्ट है। तीसरे अध्याय के दूसरे पद से यह स्पष्ट है कि सभी उच्चाधिकारी हामान के प्रति आदर-मान दर्शाने हेतु उसके समक्ष झुक कर उसे (अर्थात् हामान के "शरीर" को) दण्डवत् करते थे। इस प्रकार हामान (शारीरिकता) की राजमहल में राजा (प्राण) की गतिविधियों तक अबाधित पहुँच थी, और वह अपनी चालाकी, चतुराई व युक्ति-जुगाड़ से राजा की सोच को प्रभावित एवं नियंत्रित भी करता था। अतः इस बुरे मनुष्य के प्रभाव में राजा द्वारा बनाये गये तमाम नियम-निर्णयों का पूरे साम्राज्य (देह) के लोगों पर असर होता था (रोमि0 7:18; एस्तर 3:1-2)।

उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों के अलावा **एस्तर** की पुस्तक में **मोर्दकै** नामक व्यक्ति का भी वर्णन है जो **पवित्र आत्मा** का प्रतीक है। यह व्यक्ति राजमहल के गेट पर बैठा हुआ और महल में प्रवेश नहीं पाने वाले, महल की गतिविधियों पर असर नहीं डालने वाले

और हामान को दण्डवत् नहीं करने वाले की तरह दर्शाया गया है। इस प्रकार मोर्दकै पवित्र आत्मा का प्रतीक है, और पवित्र आत्मा तो शारीरिकता का शत्रु है। जैसे अविश्वासीजन शारीरिकता के अधिकार में जीता है और पवित्र आत्मा विहीन होता है, उसी प्रकार राजा क्षयर्य भी हामान की युक्ति-शक्ति की अधीनता से जकड़ा हुआ और **मोर्दकै** के परामर्श से वंचित दशा में जीते हुए दर्शाया गया है (एस्तर 3:1-3; गला0 5:17)।

कुछ लोग शायद यह कहें कि हामान को "शरीर" का प्रतीक बनाना उसके साथ ज्यादाती करना है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हामान घृणा और हिंसा की मूर्ति था। हाँ, ऊपरी तौर पर वह एक अच्छे चेहरे वाला राजनीतिज्ञ जैसा दिखता था किन्तु उसका सोच-विचार एवं तौर-तरीका मौत के मार्ग का अनुसरण करता रहा। वह तो यहूदियों से भी नफरत करता था। क्यों उनसे नफरत करता था? इसका उत्तर पाने के लिए हामान की वंशावली की पृष्ठभूमि में जाना होगा। जैसा कि हम जानते हैं, इसहाक के दो पुत्र पैदा हुए थे - याकूब एवं एसाव। रोचक है कि पवित्रशास्त्र में प्रभु परमेश्वर यह कहता है : "मैंने याकूब से प्रेम किया, परन्तु एसाव से बैर रखा"। क्यों परमेश्वर ने एसाव से बैर रखा? क्योंकि एसाव ने (जिसका दूसरा नाम **एदोम** भी था) प्रभु परमेश्वर को अपने जीवन में कोई महत्व नहीं दिया और अपने पहिलौटे होने के परमेश्वर-प्रदत्त जन्मजात अधिकार का भी तिरस्कार किया। उसकी दृष्टि में पहिलौटा होने का परमेश्वर-प्रदत्त अधिकार अमहत्वपूर्ण था। वह स्वयं को पर्याप्त मान कर एवं स्वच्छन्द रख कर मनमानी करना चाहता था। जबकि पवित्रशास्त्र बाइबल हमें यह दर्शाती है कि परमेश्वर की दृष्टि में वह मनुष्य अमहत्वपूर्ण एवं अनुपयोगी हो जाता है जो अपने

जीवन में प्रभु परमेश्वर को अनावश्यक समझता है (एस्तर 3:10; 8:1; 9:10; 9:24; रोमि0 9:13; उत्प0 25:29)।

एसाव ने परमेश्वर की कृपा-दृष्टि (अनुग्रह) का तिरस्कार किया। उसने परमेश्वर-प्रदत्त पहिलौटे के अधिकार को अमहत्वपूर्ण या तुच्छ समझा और परमेश्वर की दृष्टि में बहुत बुरा किया और परमेश्वर ने उसे क्षमा नहीं किया। पापी प्रवृत्ति ऐसी ही होती है, अर्थात् परमेश्वर को अपने जीवन में अनावश्यक या अमहत्वपूर्ण मानती है और उसकी कृपा-दृष्टि (अनुग्रह) को व्यर्थ ठहराती है। एसाव के एक पौत्र का नाम था **अमालेक**। **निर्गमन** तथा **मलाकी** की पुस्तकों के अनुसार एसाव अर्थात् एदोम के वंश अर्थात् अमालेकी लोग परमेश्वर की दृष्टि में शत्रु समान हैं। क्यों? क्योंकि अमालेकी लोगों में एसाव का पाप वास करता है, यानि उस व्यक्ति का पाप जिसने परमेश्वर-प्रदत्त पहिलौटेपन के आशीष का तिरस्कार किया। अमालेक में कुछ भी भला नहीं था। अमालेक में बचाने योग्य कुछ भी नहीं था। अमालेक में परमेश्वर की कृपा-दृष्टि योग्य कुछ भी नहीं था। इसीलिए अमालेकियों को नष्ट करने हेतु परमेश्वर ने राजा शाऊल को भेजा था (मला0 1:2-4; उत्प0 36:1,12; निर्ग0 17:16; प0शमू0 15:1-9)।

पहला शमूएल के पन्द्रहवें अध्याय में जिस अगाग राजा का उल्लेख है, वह एसाव का ही वंशज था। इतना ही नहीं, वह अमालेकियों का राजा था, और एस्तर की पुस्तक का **हामान** भी अमालेकी ही था। अमालेकी लोग इस्राएलियों (परमेश्वर की प्रजा) से नफरत करते थे। अतः एस्तर की पुस्तक में अमालेकियों के वंश का अर्थात् अगाग के वंश के **हामान** नामक अधिकारी द्वारा एक इस्राएली का पुनः विरोध करना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यहाँ यह भी बता

देना रोचक होगा कि मसीह के जन्म के समय का राजा हेरोदेस जिसने प्रभु यीशु को खत्म करने के प्रयास में "बेतलहम तथा उसके आसपास के स्थानों के दो वर्ष के सब लड़कों को मरवा डाला" था, वह भी एसाव का ही वंशज था। इसलिए हामान का परमेश्वर की प्रजा के विरुद्ध बैर-भाव कोई आश्चर्य की बात नहीं (एस्तर 3:1; मत्ती 2:16)।

हामान इस दृश्य को देखकर आग-बबूला हो जाता था कि राजमहल के गेट पर बैठा एक साधारण जन (मोर्दकै) उसे दण्डवत् नहीं करता। अतः यहूदियों के प्रति अपने वंशानुगत बैर-भाव से उसने राजा के समक्ष यहूदियों की इन शब्दों में शिकायत की - "उनके नियम अन्य सब जातियों से भिन्न हैं"। हामान ने परमेश्वर की प्रजा के "नियम" द्वारा क्या दर्शाने की कोशिश की? सम्भवतः उसने इस्राएलियों को परमेश्वर द्वारा दी गयी "व्यवस्था" (बाइबैल) की ओर संकेत किया था। इस प्रकार (शारीरिकता के प्रतीक) चालाक हामान ने (मानव-प्राण के प्रतीक) क्षयर्ष राजा को दुष्टतापूर्ण सलाह दी कि परमेश्वर की व्यवस्था को मानने वालों को अपने राज्य में रखने से और समस्याएं आ जाएंगी, अतः उन्हें खत्म कर देने में ही हमारी भलाई है। राजा क्षयर्ष तो हामान के ही चलाए चलता था (जैसे कि उद्धारविहीन मनुष्य शारीरिकता का गुलाम होता है) और उसने हामान की बात मान ली। एस्तर की पुस्तक के तीसरे अध्याय से स्पष्ट है कि राजा ने इस फरमान पर अपनी मुहर लगा दी थी कि "एक ही दिन में सब यहूदी चाहे जवान हों या बूढ़े, स्त्री हों या बालक, नष्ट कर दिए जाएं, मार डाले जाएं और मिटा डाले जाएं और उनकी धन-सम्पत्ति लूट ली जाए"। परमेश्वरविहीन मानव-आत्मा (शारीरिकता) की चतुराई, चालाकी, नीति, युक्ति-जुगाड़ एवं दुष्टतापूर्ण योजनाओं की कितनी सही तस्वीर। अर्थात् परमेश्वर-विरोधी

अभिलाषाओं का कितना वीभत्स रूप। बहरहाल, इस योजना के अनुसार वहाँ के यहूदियों का भविष्य अन्धकारपूर्ण दिखाई दिया (एस्तर 3:2-13)।

ऐसी परिस्थिति में एस्तर रानी की महत्वपूर्ण भूमिका के बारे में विचार करें। एस्तर तो मनुष्य की आत्मा का प्रतीक है। राजा क्षयर्य के जीवन में आने से पूर्व (पवित्र आत्मा के प्रतीक) मोर्दकै का एस्तर के जीवन में स्थान पाना जरूरी है, जैसे कि उद्धार-प्राप्ति के समय पवित्र आत्मा का पहले मानव-आत्मा में स्थान पाना जरूरी है, तभी वह मानव-प्राण अर्थात् उसके मस्तिष्क, आवेग एवं इच्छा को प्रभावित करेगा। यहाँ यह भी बड़ा रोचक है कि एस्तर के जीवन में मोर्दकै कैसे आया। लेपालक होने के द्वारा। पवित्र आत्मा के बारे में कितनी सुन्दर तस्वीर। जब मोर्दकै ने एस्तर को अपनी दत्तक पुत्री बना लिया तो उसका लालन-पालन करना, शिक्षा देना एवं परामर्श देना मोर्दकै की जिम्मेदारी थी। इसी प्रकार पवित्र आत्मा भी विश्वासी के जीवन में इन दायित्वों को पूरा करना चाहता है (एस्तर 2:7; 4:7; रोमि0 8:14-15; गला0 4:4-7; यूह0 14:16,26; यूह0 16:13)।

इस संदर्भ में अब एक अन्य बात पर ध्यान दीजिए। एस्तर के चौथे अध्याय के प्रारम्भिक पदों में पवित्र आत्मा के शोकित होने की तस्वीर दर्शायी गई है - अर्थात् मोर्दकै का शोक-विलाप। चौथे अध्याय के शेष विवरण से साफ है कि यद्यपि एस्तर ने मोर्दकै को सान्त्वना देने का प्रयास किया, तथापि वह आश्वस्त नहीं हुआ, और शोक-विलाप करता रहा। यहाँ पुनः यह तथ्य सामने आता है कि (पवित्र आत्मा के प्रतीक) मोर्दकै को (मनुष्य की आत्मा के प्रतीक) एस्तर के जीवन में जगह मिलने के बावजूद, उसे अर्थात् मोर्दकै को (मनुष्य के प्राण अर्थात् मनोवेग, मस्तिष्क एवं इच्छा के प्रतीक) क्षयर्य

के राजमहल तक पहुंच नहीं प्राप्त थी। वहां हामान का ही बोलबाला था। यह शारीरिक मसीही की तस्वीर है। अर्थात् ऐसा विश्वासी जो बच तो गया है, लेकिन पवित्र आत्मा के चलाए नहीं चलता। एस्तर रानी ने जब यह देखा कि **मोर्दकै** को ढाढ़स देने में वह असमर्थ हो रही है तब उसने उसके दुख-दर्द का सही कारण एवं मोर्दकै के सलाह के अनुसार इसका निवारण जानना उत्तम समझा। एस्तर का यह संदेश पा कर मोर्दकै ने फौरन प्रत्युत्तर दिया; जैसे अपने युक्ति-जुगाड़ पर भरोसा त्याग कर जब हम पवित्र आत्मा की अगुवाई की ओर दृष्टि व भरोसा रखना शुरू करते हैं तो वह हमारी सहायता के लिए तैयार रहता है (एस्तर 4:1-8; इफि0 4:30)।

राजमहल में एस्तर कैसे लोगों के साथ जीवन बिता रही थी? इसकी जानकारी पाकर सम्भवतः वह आश्चर्यचकित थी कि किस प्रकार की दुष्टतापूर्ण योजनाओं के केन्द्र-बिन्दु में वह रह रही है। ऐसी जानकारी उसके लिए सुखद नहीं थी, और हरेक विश्वासी जन अपनी शारीरिकता के कुरूप को पहचानने पर ऐसा ही अनुभव करता है। हममें से अधिकतर मसीही इस ज्ञान से अनभिज्ञ रहते हैं कि हमारे अन्दर कैसी बुरी शारीरिकता वास करती है। एस्तर भी इस जानकारी से अचम्बित थी कि क्षयरु के राज-काज को हामान जैसे दुष्टतापूर्ण अगुवे के हाथों में सौंपा गया है। बहरहाल, एस्तर को **मोर्दकै** की सलाह से भी अचम्बित होना पड़ा - "राजा के पास जाकर ... विनती करे"। एस्तर इस निर्देशात्मक सलाह से इसलिए भी भयभीत थी क्योंकि राजा के समक्ष बिन बुलाए जाना मृत्यु-दण्ड को दावत देना था। उस राज्य का यह अचूक नियम था। ऐसी कोई सम्भावना नहीं थी कि इस प्रकार की गलती करने वाले को गिरफ्तार करके जाँच-पड़ताल के बाद मुकदमा चलाया जाएगा और

दोषी पाने पर ही दण्डित किया जाएगा। इस गलती का सीधा परिणाम मृत्यु-दण्ड सुनिश्चित था। इससे बचने का केवल एक ही तरीका था कि यदि ऐसे समय राजा अपना सोने का राजदण्ड उस व्यक्ति की ओर बढ़ा दे तो वह व्यक्ति मृत्यु-दण्ड नहीं पाएगा। फिर भी एस्तर का ऐसा दुस्साहस करना बहुत ही जोखिम भरा कदम होता। इसीलिए वह मोर्दकै की सलाह पर अमल करने से बहुत भयभीत हुयी (रोमि0 7:18; एस्तर 4:8-11)।

जरा एस्तर की तत्कालीन भावनाओं के बारे में कल्पना कीजिए! दूसरे अध्याय के बीसवें पद से यह ज्ञात होता है कि तब तक एस्तर ने यह जाहिर नहीं किया था कि वह एक यहूदी है; लेकिन यह भेद प्रकट होने का समय आ चुका था, और उसे खुल्लम खुल्ला परमेश्वर की प्रजा के साथ अपनी पहचान होने देना था। बेशक, ऐसा करके यहूदियों के प्रति हामान की नफरत के निशाने के सामने वह भी आने वाली थी। ऐसी दशा में शायद वह यह सोच रही होगी कि यदि हामान उतना ही बुरा है जितना मोर्दकै बताता है तब तो मुझे हामान से ज्यादा चालाकी व चतुराई की चाल से हामान को हराने का युक्ति-जुगाड़ करना चाहिए। लेकिन जैसे इन सब बातों में एस्तर के लिए यह सीखना व मानना आसान नहीं था कि हामान (शारीरिकता) को फाँसी देना उसकी जिम्मेदारी नहीं है; उसी प्रकार आज भी यह सीखना, समझना, मानना व अपनाना आसान नहीं है कि शारीरिकता का स्थायी समाधान करना परमेश्वर का दायित्व है : जैसे कि हामान रूपी समस्या का समाधान करना (फाँसी देना) मोर्दकै की जिम्मेदारी थी। हामान को दंडित करने के स्व-प्रयास रूपी अभिमान के प्रति एस्तर को मरना था, इसी प्रकार हमें भी अपनी शारीरिकता रूपी समस्या का स्वयं समाधान करने के

अहंकार के प्रति मरना है। शारीरिकता रूपी समस्या परमेश्वर की समस्या है, और वही स्थायी समाधान प्रदान करता है (गला0 5:17)।

कितनी अद्भुत तस्वीर : “तीन दिन और तीन रात”। यहाँ एस्तर परमेश्वर के लिए जीवित और अहं के प्रति मृतक विश्वासी जन की तस्वीर पेश करती है। अब जब वह बिना बुलाए राजा के समक्ष जाएगी, तब तो राजा का केवल सोने का राजदंड ही उसे मौत से जिन्दा कर सकता था। अतः “तीसरे दिन” वह राजनिवास में जाकर खड़ी हो गयी। “तीसरे दिन” की बात पवित्रशास्त्र में कई स्थान पर आती है। “तीसरे दिन” यहोशू ने इस्राएल की प्रजा को यरदन (मृत्यु-स्थल की प्रतीक) नदी को पार कराया था। “तीन दिन और तीन रात” योना नबी महामच्छ के पेट में रहा; अर्थात् अपनी ढिठाई व अहंकार के प्रति मरने हेतु, और अन्ततः तीसरे दिन उगला (जीवित किया) गया ताकि विनाश होने वाले लोगों को परमेश्वर का संदेश सुनाए। “तीसरे दिन” अब्राहम ने जब अपनी आँख उठायी तो परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट स्थान को देखा जहाँ इसहाक को होम बलि चढ़ाना था। उस स्थान पर ही उसे अपने एकलौते पुत्र पर छुरी चलानी थी। उस तीसरे दिन अब्राहम ने अपने पुत्र इसहाक को बलि करने के लिए जैसे ही छुरी चलाना चाही, तत्काल इसहाक को मृत्यु से बचाने हेतु प्रभु परमेश्वर ने एक अन्य मेढे का उपाय किया, और इस प्रकार इसहाक जिन्दा किया गया। इसी प्रकार, “तीसरे दिन” प्रभु यीशु मसीह के पुनरुत्थान जीवन की सहभागिता में जीवन बिताने के आकांक्षी विश्वासी को भी अपने अहं (अहंकार, स्व-प्रयास व स्वार्थ) के प्रति मरना जरूरी है (यहोशू 3:2; योना 1:17; उत्प0 22:4; इब्रा0 11:18-19; कुलु0 3:1-4; रोमि0 6:4)।

अन्ततः डरते-काँपते वह लड़की तीसरे दिन बिन बुलाए राजदरबार के खतरनाक नियम को तोड़ते हुए राजा के सामने जा खड़ी हुयी। स्वयं को मृतक समान मानते हुए, वह अपने नुकसान व जान के प्रति बेखबर थी - एक खास प्रकार की स्वतंत्रता। जैसे कि परमेश्वर ने उसे मृत्यु से जिला दिया था, अपने आपके प्रति मृतक समान, किन्तु परमेश्वर के प्रति जागृत। एस्तर के इस कदम के बाद सारी जिम्मेदारी मोर्दकै पर थी। एस्तर का काम था मोर्दकै पर आश्रित रहना (यूहो 12:24; पोकुरि 15:36; एस्तर 5:1-5; रोमि 6:11,13; रोमि 15:13)।

दूसरी तरफ हामान अपनी पदोन्नति एवं रानी के पास राजा के साथ दो बार खाना खाने की दावत से फूले नहीं समा रहा था। अपने घर जाकर अपनी पत्नी तथा मित्रों के पास अपनी बेहद खुशी का बयान करता रहा। अपनी खुशी व अहंकार में उसने उनसे यह भी कहा कि अब तो राजा के अलावा रानी साहिबा भी उससे बहुत खुश हैं। इस प्रकार हामान ने शारीरिकता का भरपूर परिचय दिया। परन्तु एक बात हामान की इस सारी खुशी का मजा खराब कर रही थी - हामान को देख कर 'मोर्दकै न तो खड़ा होता था और न ही दूर हटता था'। यह स्मरण करते हुए हामान अत्यन्त क्रोध में अपनी इस बेचैनी को भी अपनी पत्नी व दोस्तों के समक्ष छिपा नहीं सका। तब उन लोगों ने मोर्दकै के लिए फाँसी का खम्भा बनवाने की सलाह दी। अब ऐसा लगा जैसे कि मोर्दकै के लिए फाँसी ही शेष है (एस्तर 5:9-13)।

परमेश्वर द्वारा निर्धारित समय बड़ा महत्वपूर्ण होता है। इस कहानी में छठवें अध्याय के शुरू में लिखा है कि "उस रात" राजा को नींद नहीं आयी। अर्थात् रानी के यहाँ दोनों दावतों के बीच की रात यानि जो रात मोर्दकै की जान के सम्बन्ध में सर्वाधिक

खतरनाक थी और दूसरे दिन उसे फाँसी दी जाने वाली थी, “उस रात” राजा सो नहीं सका। हाँ, राजा करवटें बदलता रहा, बेचैन रहा और नींद नहीं आयी। अन्ततः उसने दस्तावेजों को मंगवा कर जानकारी प्राप्त की। तब उसे यह ज्ञात हुआ कि मोर्दकै ने तो उसकी जान बचायी थी। इस बात के प्रति राजा सोचता रहा कि यदि मोर्दकै ने समय से खतरे की सूचना न दी होती तो राजा क्षयरूप आज जीवित न होता। इस महत्वपूर्ण तथ्य की जानकारी के बाद राजा ने यह जानना चाहा कि इसके बदले मोर्दकै को क्या पुरस्कार प्राप्त हुआ था। कुछ नहीं। इस उत्तर की जानकारी से राजा बहुत दुःखित हुआ। तब राजा ने इस भूल को फौरन सुधारना चाहा। उसी समय (परमेश्वर द्वारा निर्धारित सही व महत्वपूर्ण समय पर) वहाँ हामान दिखाई दिया (एस्तर 6:1-5; एवं 2:21-23)।

इस घटनाक्रम में समय के महत्व पर पुनः ध्यान दें। राजा तो मोर्दकै को पुरस्कृत करने की सोच रहा है, तभी हामान उसे फाँसी पर चढ़ाने की अनुमति मांगने आ रहा है। राजा तो हामान को विश्वसनीय मान कर मोर्दकै को पुरस्कृत करने का दायित्व भी उसी को देने वाला था। लेकिन हामान अपने पद-प्रतिष्ठा के अहंकार में डूबा था और स्वयं के सम्मानित होने के अलावा अन्य किसी को प्रतिष्ठित किए जाने की बात नहीं सोच सकता था। अतः प्रतिष्ठा व पुरस्कार सम्बन्धी उसकी पूरी सलाह स्वार्थ-सिद्धि की भावना से भरपूर थी। हामान ने यह सोचा कि प्रतिष्ठित करके जनता के बीच वही घुमाया जाएगा। उसने सोचा राजा-रानी का चहेता अधिकारी तो वही है और उसी को सम्मानित किया जाएगा। स्वार्थ, अहंकार व झूठी खुशी से रौनक भरा हामान का वह चेहरा देखने लायक रहा होगा (एस्तर 6:6-10)।

राजा ने गम्भीरतापूर्वक हामान को ही मोर्दकै को सम्मानित करने की जिम्मेदारी सौंपी, क्योंकि तब तक राजा को हामान की दुर्भावनापूर्ण आचरण का पता नहीं था। जैसे हामान के द्वारा राजा ने मोर्दकै को सम्मानित किया उसी प्रकार अक्सर हम भी अपनी शारीरिकतापूर्ण गतिविधियों द्वारा प्रभु को आदर देने का गम्भीर एवं ईमानदारीपूर्ण प्रयास करते हैं - हाँ, धार्मिक प्रयास, कलीसियाई व सेवकाई वाला प्रयास, मसीह को आदर देता दिखने वाला प्रयास, मसीही जीवन जीने हेतु स्व-प्रयास केन्द्रित शारीरिकतापूर्ण प्रयास। जैसे राजा ने पाया कि (शारीरिकता के प्रतीक) हामान ने राजा के समक्ष अच्छा दिखने हेतु और उसका चहेता बने रहने के मतलब से, मोर्दकै को सम्मानित करने में भी, राजा का साथ दिया उसी प्रकार हमारी शारीरिकता भी हमारे धर्म-कर्म में साथ देना चाहती है। हाँ, शारीरिकता चर्च क्वायर में गाना-बजाना भी करेगी, सन्डे स्कूल में भी पढ़ाएगी, पुलपिट से उपदेश भी देगी, बाइबल स्कूल व सेमिनरी भी जाएगी और यहां तक कि सुसमाचार सेवा के नाम से मिशन फील्ड में भी ले जाएगी। शारीरिकता अपने आपको फाँसी पर चढ़ाए जाने से बचाने के लिए कुछ भी करने को तैयार रहेगी (एस्तर 6:11-13)।

आगे के विवरण को पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि शीघ्र ही वह समय आया जबकि राजा क्षयर्य और हामान पुनः एस्तर की दावत में पहुँचे। वहाँ सच्चाई बेपर्द हुयी। शत्रु का खुलासा हुआ। राजा के समक्ष असलियत प्रकट हो गयी। हम विश्वासियों के व्यक्तिगत जीवन में भी ऐसा ही होता है - अर्थात् जब हमें अपने शारीरिकता रूपी शत्रु का सच्चा ज्ञान होता है, तब वह समय हमारे आध्यात्मिक जीवन का एक खास समय होता है। हमारी मानव-आत्मा

द्वारा पवित्र आत्मा इस सच्चाई को हम पर प्रकट करता है, यानि हमारी शारीरिकता की दुष्टता रूपी सच्चाई। जब प्रभु यीशु क्रूस पर हमारे बदले मरा, तब उसने हमारे छुटकारे की कीमत तो अदा की ही, इसके साथ ही साथ हमारा पुराना मनुष्यत्व भी उसके साथ क्रूस पर चढ़ाया गया, हमारी वह शारीरिकता क्रूसित हुयी जो हमारे मन, भावना व इच्छा (प्राण) पर कब्जा जमाए रहती है। यहाँ रोमियों के छठवें अध्याय के छठवें पद को याद रखना जरूरी है; क्योंकि एस्तर की पुस्तक में हामान की फाँसी के द्वारा यही सबक (सच्चाई) दर्शाया गया है। फाँसी पर चढ़ाए जाने के बाद हामान (शारीरिकता) राजा क्षयर्ष (प्राण) को प्रभावित या नियंत्रित नहीं कर सकता था और इस प्रकार (देह का प्रतीक) उसका साम्राज्य बुराईयों का साधन नहीं हो सकता था (एस्तर 6:14-7:10; रोमि0 6:6; गला0 2:20; रोमि0 6:13)।

आखिर में, ध्यान दें कि राजा क्षयर्ष के आचरण में जो महत्वपूर्ण बदलाव आया वह हामान को सुधारने के द्वारा नहीं बल्कि उसकी जगह मोर्दकै को पदासीन करने पर आया। यहाँ परिवर्तन की बात नहीं है बल्कि प्रतिस्थापन की बात है (बदलाव की बात नहीं बल्कि अदला-बदली की बात)। हामान तो भ्रष्ट था, सुधार रूपी इलाज बेअसर होता। वह सच्चे बदलाव का आकांक्षी नहीं था। वह तो सिर्फ अपनी फाँसी के लिए फिट था। हमारे हरेक जन के जीवन में वास करने वाले पुराने मनुष्यत्व या पाप-स्वभाव के बारे में भी परमेश्वर-कृत इलाज यही है। हामान समान जो शारीरिकता हमारे जीवन में वास करती है, उससे निपटने की सामर्थ्य हमारी अपनी शक्ति में निहित नहीं है। जैसे पाप से उद्धार के लिए परमेश्वर पिता ने हमें मसीह के क्रूस पर आश्रित कर रखा है, उसी प्रकार पाप-स्वभाव से दैनिक छुटकारे के लिए भी उसने हमें क्रूस पर

सम्पन्न कार्य पर ही आश्रित कर रखा है। अतः जब कभी हामान अर्थात् शारीरकता आपके कार्य-व्यवहार को प्रभावित व नियंत्रित करना चाहे तो कृपया क्रूस पर किए गये कार्य पर ही अपना मन लगाएं; क्योंकि हमारा पुराना मनुष्यत्व मसीह के साथ वहीं क्रूसित व शक्ति-विहीन किया गया। हमें तो सिर्फ इसी सच्चाई पर विश्वास व भरोसा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करना सीखना है।

शिष्यता-प्रक्रिया

आध्यात्मिक विकास-प्रक्रिया में मसीह के क्रूस की महत्ता सुस्पष्ट है। इस सम्बन्ध में प्रभु के किसी दास के इन शब्दों पर विचार करें : “क्रूस के अलावा अन्य कोई चीज हमें परमेश्वर के लिए पृथक करने में समर्थ नहीं है, केवल क्रूस ही हमें प्रभु की सच्ची शिष्यता की ओर ले जा सकता है; क्योंकि केवल क्रूस ही पुराने मनुष्यत्व को मृत्यु-स्थल पर रखने में समर्थ है।” लूका के सुसमाचार में शिष्यता की शिक्षा देते हुए प्रभु यीशु ने इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था। उसने लोगों से कहा, **यदि कोई मेरे पीछे आना चाहता है तो वह स्वयं अपना इनकार करे, प्रतिदिन अपना क्रूस उठाए और मेरा अनुसरण करे।** प्रायः शिष्य को शिक्षार्थी या सीखने वाले के रूप में परिभाषित किया जाता है। परन्तु कोई तब तक सच्चा सीखने वाला (सीखने का इच्छुक) नहीं हो सकता जब तक उसका अहंकार उसके रास्ते से नहीं हटता, और हमारे अहं का समाधान केवल क्रूस पर सम्भव है। प्रभु यीशु के इन शब्दों पर ध्यान दें : “जो कोई अपना क्रूस उठा कर मेरे पीछे नहीं चलता, वह भी मेरा चेला नहीं हो सकता।” “अपना क्रूस उठाना” और दैनिक तौर पर “अपने आपे से इनकार करना” केवल क्रूस के द्वारा ही सम्भव है। ऐसी मानसिकता (मनोदशा) निरन्तर कैसे सम्भव है? केवल क्रूस के माध्यम से। यह किसी भी क्रूस के द्वारा नहीं, बल्कि केवल मसीह के क्रूस से सम्भव है। विश्वासी जन का क्रूस वही कलवरी का क्रूस ही है जहाँ वह (अर्थात् उसका पुराना आदम-स्वभाव) मसीह के साथ सह-

क्रूसित हो चुका है (गला0 2:20; लूका0 9:23;14:27; फिलि0 2:5-8)।

यदि हमारा पुराना अहं सक्रिय है तो हमारे जीवन में मसीह कार्यकारी नहीं है। इसके बजाय जब हम यह विश्वास करते हुए मसीही जीवन बिताते हैं कि हमारा पुराना आदम-स्वभाव मसीह के साथ क्रूसित हो चुका है, तब पवित्र आत्मा द्वारा हमारा अहं (अर्थात् शारीरिकता या पाप-स्वभाव) शक्तिहीन किया जाता है और हम प्रभु की अगुवाई के अनुसार चलना (शिष्यता) सीखते हैं। लेकिन समस्या यह है कि हममें से अधिकतर विश्वासी इस सच्चाई पर विश्वास किए बगैर जीवन बिताते हैं कि हमारी शारीरिकता मसीह के साथ क्रूस पर चढ़ाई जा चुकी है और शक्तिहीन है। नतीजतन प्रभु हमारी अगुवाई नहीं कर सकता। तो क्या वह क्रोधित होकर हमें त्याग देता है? नहीं, ऐसा नहीं है। हममें से अधिकतर लोगों को शिष्यता-विकास में बहुत समय लगता है - एक लम्बी अवधि और लम्बी प्रक्रिया। प्रभु ने जो भला कार्य हमारे जीवन में आरम्भ किया है, उसे अवश्य पूरा करेगा। वह सर्वशक्तिमान एवं सर्वसत्ताधारी परमेश्वर है। वह पूर्णरूपेण विश्वसनीय एवं विश्वासयोग्य है। हम सर्वशक्तिमान या सर्वसत्ताधारी नहीं हैं और न ही शैतान सर्वशक्तिमान है, केवल प्रभु परमेश्वर सर्वशक्तिमान है। केवल वही जैसा चाहता है वैसा करता है (दू0पत0 3:18; याकूब 5:7; फिलि0 1:6; भज0 115:3; 135:6)।

मनुष्य के विचारों, प्रार्थनाओं अथवा अन्य किसी भी प्रकार के क्रिया-कलाप द्वारा परमेश्वर को सीमित या नियंत्रित करने की बात करना मूर्खता है। पवित्र बाइबल की पहली लाइन में यह लिखा है कि "आदि में परमेश्वर"। परमेश्वर ने ही योजना बनायी, और उसी ने क्रियान्वित किया और वही अपनी भली-भावती इच्छा के अनुसार आगे भी करता रहेगा। सच्ची बाइबलीय विचार-पद्धति में परमेश्वर

का प्रथम स्थान है। मनुष्य को उसके सृष्टिकर्ता की योग्यता एवं उद्देश्य के अनुसार परिवर्तित होना एवं उसका अनुसरण करना है, न कि इसका उल्टा (फिलि0 2:13; इब्रा0 13:20-21)।

कई ऐसे विश्वासी दिखाई देते हैं जो योना की तरह तेज-तर्रार, चतुर-चालाक, सामर्थी व धर्मी प्रतीत होते हैं। कभी-कभी तो उनकी शक्ति में इतना स्वार्थ होता है कि उनकी धार्मिकता कुछ ज्यादा ही स्व-धार्मिकता प्रतीत होती है। ऐसे विश्वासियों के पास संतों की श्रेणी में गिने जाने के लिए "क्रूस के सिवाय", अन्य सारे साजो-सामान पाए जाते हैं। हकीकत यह है कि जो लोग प्रभु के चुने हुए हैं उनके लिए उसके पास अंगूर का रस निकालने वाला एक कोल्हू है, एक महामच्छ है जिससे होकर उन्हें एक दिन गुजरना होगा। जब हम मसीही लोग ऐसे विचित्र एवं अन्धकारमय अनुभव में डाल दिए जाते हैं तब हमारा बाहरी दिखावा चकनाचूर होने लगता है। तब जो कुछ मसीह का अथवा **उसकी** ओर से नहीं है, वह बेपर्दा होने लगता है। यह सब तब तक होता रहता है जब तक कि सिर्फ वही शेष नहीं रह जाता जो मसीह से और मसीह का है। अन्य सब स्वार्थ, अहंकार, आडम्बर एवं दिखावा मौत (क्रूस) के हवाले होता है (प0पत0 5:10; याकूब 1:2-4; रोमि0 5:3-4; अय्यूब 13:15)।

चीन देश के मसीही प्रभु भक्त वॉचमैन की इस साक्षी पर ध्यान दें : "प्रभु ने अपनी कृपा में एक बार कई महीनों तक मुझे एक काल कोठरी में रखवा दिया। ऐसा लगा जैसे कि उन्होंने मुझे त्याग दिया है, कुछ भी नहीं हो रहा है। मैं बिल्कुल हताश, निराश एवं लाचार महसूस कर रहा था। तब धीरे-धीरे कदम-ब-कदम वह मुझे फिर से जागृत करने लगा, पुनः जीवित किए जाने जैसी अनुभूति। तब वह अन्धकार-अनुभव उसके पवित्र-स्थान में अनुभव जैसा लगने

लगा। उसके पवित्र स्थान-अनुभव की एक खास समयावधि होती है। उसके समय की गति में हड़बड़ाहट या जल्दीबाजी नहीं की जा सकती, क्योंकि वह जो कुछ कर रहा है उसे भलीभाँति जानता है ...”। कई विश्वासी ऐसी साक्षी दे सकते हैं कि प्रभु उनके पिछले वर्षों के दौरान उन्हें ऐसी परिस्थितियों और अनुभवों में ले जाता रहा है जो उनकी पसन्द भी नहीं थी, किन्तु इनके द्वारा उनके आध्यात्मिक जीवन-विकास में विस्तार लाया गया है। यह हमने नहीं चुना बल्कि परमेश्वर ने ऐसा किया (भज0 66:10-12)।

श्री एल0ई0 मैक्सवेल के अनुसार : “यह कितनी धन्य बात है कि हमारा स्वर्गिक पिता परमेश्वर प्रेम एवं धैर्यपूर्वक हमें अपनी एकता में बढ़ाने हेतु हमें पार्थिव बन्धन से मुक्त करने के लिए कृत-संकल्प है। ऐसा करने के लिए उसका प्रेम हमें निराशा एवं मृत्यु की तह तक ले जाने से नहीं चूकेगा। सम्भव है कि हमारे आन्तरिक जीवन का सारा ताना-बाना उल्टा-पुल्टा कर दिया जाय और हमारी सहनशक्ति भी जाती रहे। ऐसी दशा में भी विश्वासीजन की आत्मा के लिए सलाह यही है कि आशा मत छोड़ो, यह सब पिता परमेश्वर का ही कार्य है, यानि अहं-जीवन, शारीरकतापूर्ण जीवन-शैली का तोड़ा जाना”। अतः यदि हम ख्रीष्ट के शिष्य होना चाहते हैं, ऐसा शिष्य जो सीखने की भूख-प्यास रखता है, तो एक ही मार्ग है - अहं के प्रति मरना। यह कार्य स्व-प्रयास द्वारा नहीं होता, बल्कि मसीह के साथ सह-क्रूसित होने की बाइबॅलीय सच्चाई के ज्ञान एवं उस पर विश्वास के द्वारा। तब देखिए कि इस ज्ञान-पहचान के द्वारा पवित्र आत्मा आपमें प्रभु का अनुसरण करने की कैसी कूवत एवं कामना देता है।

विश्राम

एक मिशनरी सेवक की इस जीवन-साक्षी पर विचार करें :
 “मिशनरी सेवा-प्रशिक्षण के पहले वर्ष के दौरान मेरी पत्नी बहुत बीमार हो गयी। हफ्तों-महीनों बीतने के साथ उसकी दशा और खराब होती गई। हम लोग बहुत चिन्तित होने लगे। डाक्टर बदलने पर दूसरे डाक्टर ने ब्रेन ट्यूमर होने की सम्भावना व्यक्त की। यह सुनकर मुझमें अकथनीय चिन्ता-परेशानी बढ़ने लगी। यह सब देखकर उस प्रशिक्षण केन्द्र के एक कर्मचारी ने हमें अपने यहां भोजन पर बुलाया और हमारे व्याकुल मन को समझाते हुए सान्त्वना दी कि प्रभु में विश्राम की जरूरत है, घबराने से आराम नहीं मिलेगा। इससे पहले हमने प्रभु पर विश्वास करने, उसके प्रति समर्पित होने, उसे देने की बात तो सुनी थी, मगर उसमें विश्राम के बारे में नहीं जानते थे। लेकिन इतना जरूर जानते थे कि उनकी बात सही लग रही थी। यद्यपि हमें यह एक नई बात लगी फिर भी हम इस विषय में थोड़े भ्रमित महसूस किये, क्योंकि ऐसा लगा जैसे कि कठिनाई-परेशानी के बीच शान्तिपूर्ण रहने की सलाह दी जा रही है ...” (भज0 37:7)।

बहुत से विश्वासियों की यही कहानी है, अर्थात् कठिन परिस्थिति आने पर हम उनसे बाहर निकलने के लिए तड़फने लगते हैं, बजाय इसके कि प्रभु की ओर मन लगाकर उसमें विश्वास-विश्राम करें। प्रायः हमारी नज़र कठिन परिस्थिति पर केन्द्रित रहती है, प्रभु परमेश्वर पर नहीं। हम स्व-प्रयास में गतिविधियों के युक्ति-जुगाड़ से अपनी कठिनाई-परेशानी की हालत से छुटकारा

पाने की कोशिश करने लगते हैं; जबकि प्रभु से प्रार्थना करते हुए, उस पर विश्वास रखते हुए उसी में विश्राम करना चाहिए कि वह सब कुछ जानता-समझता है और जो करेगा सब ठीक ही करेगा। इब्रानियों की पत्री के तीसरे अध्याय का अध्ययन करने पर “विश्राम” की बात के महत्व को हम और ज्यादा पहचानने लगते हैं। इस अध्याय में “विश्राम” शब्द अनेक बार आया है। यद्यपि इस अध्याय की बातें इस्राएल और स्वर्ग के बारे में हैं, फिर भी इनसे हम अपने इहलौकिक जीवन के बारे में व्यवहारिक लाभ ले सकते हैं। ध्यान दें कि इब्रानियों के इस अध्याय में “विश्राम” शब्द प्रायः “विश्वास” के संदर्भ में ही प्रयोग हुआ है। “विश्राम में प्रवेश करने के लिए प्रयत्नशील रहें”। अपने जीवन में बाइबेलीय सच्चाईयों को समझने व अपनाने की प्रक्रिया में बहुत संघर्ष, अध्ययन एवं मनन-चिन्तन शामिल है। हाँ, प्रायः ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि हम खोज, चिन्तन-मनन एवं परिश्रम कर रहे हैं, लेकिन वास्तव में यह सब हम नहीं कर रहे हैं। यह तो प्रभु की ओर से है (व्यव० ८:१६; इब्रा० १२:११; यशा० ५०:१०-११; इब्रा० ३:८-४:११; यूह० ६:४४; कुलु० १:२९; प०कुरि० १५:१०; फिलि० २:१३)।

आध्यात्मिक विकास प्रक्रिया में “विश्राम” सम्बन्धी बातों पर विचार करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रभु में विश्राम के लिए प्रभु परमेश्वर को जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, न कि सिर्फ उसके बारे में जानना। प्रभु परमेश्वर को जिस हद तक हम नहीं जानते उतना अन्य बातों, वस्तुओं या व्यक्तियों पर भरोसा करेंगे; प्रभु पर नहीं। पवित्र बाइबेल में कई ऐसे व्यक्तियों का उदाहरण है जिन्होंने अपने परमेश्वर को पहचानने के कारण हर हालत में उसी में विश्वास-विश्राम किया। दाऊद, शद्रक, मेशक और अबेद-नगो - इन सब लोगों ने विश्वास के आधार पर आचरण किया अर्थात् अपने

परमेश्वर पर आशा-भरोसा व विश्वास करते हुए उसमें “विश्राम” किए रहे। उनके संघर्षशील विश्वास ने उन्हें विजय नहीं प्रदान की, बल्कि उनके विश्रामपूर्ण (विश्रामशील) विश्वास ने प्रदान की (दू0पत0 1:2-3; प0इति0 21:1-15; दानि0 3:1-30)।

सवाल यह है कि क्या आप प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु परमेश्वर पर भरोसा कर सकते हैं? क्या आप उसे जानते हैं? क्या आप यह जानते हैं कि प्रभु परमेश्वर प्रेमी एवं भला परमेश्वर है और वह आपकी भलाई चाहता है? स्वास्थ्य, नौकरी, आर्थिक आवश्यकता, पारिवारिक एवं अन्य आवश्यकताओं के संदर्भ में वह आपकी भलाई ही चाहता है। क्या आप ऐसे सर्वशक्तिमान परमेश्वर पर आशा-भरोसा व विश्वास रखते हुए उसमें “विश्राम” करना चाहते हैं? मत्ती के सुसमाचार के चौदहवें अध्याय में पतरस कुछ हद तक प्रभु पर विश्वास करते हुए नाव से निकल कर पानी पर चलने लगा। परन्तु आंधी-तूफान आने पर उसके विश्वास का स्थान उसके भय ने ले लिया। तब उसकी नज़र प्रभु से हट कर संकट की ओर चली गई और वह डूबने लगा। प्रभु पर हम कितना भरोसा कर रहे हैं? हम किस हद तक उस पर भरोसा कर सकते हैं और उसके बाद डूबने लगते हैं? किसी न किसी बिन्दु पर हममें से प्रत्येक जन के डूबने की सम्भावना है। बहरहाल, प्रभु के इस वचन पर विचार करें : “हे सब थके और बोझ से दबे लोगों, मेरे पास आओ : मैं तुम्हें विश्राम दूंगा। मेरा जुआ अपने ऊपर उठा लो और मुझसे सीखो, क्योंकि मैं नम्र और मन में दीन हूँ, और तुम अपने मन में विश्राम पाओगे। क्योंकि मेरा जुआ सहज और मेरा बोझ हल्का है” (मत्ती 14:22.31; मत्ती 11:28.30)।

सहायता

क्या प्रभु परमेश्वर को हमारी मदद की जरूरत है? जवाब बिल्कुल साफ है कि उसे हमारी मदद की जरूरत नहीं है। अब प्रश्न यह है कि क्या हमें परमेश्वर की सहायता की जरूरत है? जवाब इस अध्याय की आगे की बातों से स्पष्ट होगा।

दूसरा राजा की पुस्तक के दूसरे अध्याय के उन्नीसवें पद में एक सुन्दर शहर के बारे में यह लिखा है कि उसका जल अशुद्ध था और उसकी जमीन ऊसर (अनुपजाऊ, बांझ) थी। हाँ, पानी था किन्तु अशुद्ध था; जमीन में कुछ समय के लिए पौधे उगते-जमते थे, मगर जल्द ही सूख जाते थे। स्थायी फल या फसल नहीं लगते थे। समय से पहले ही पौधे मुरझा जाते थे। आज तमाम विश्वासियों की भी यही दशा है। वे अच्छे दिखते हैं, मसीही तौर-तरीका, रीति-विधि, शब्द-शब्दावली जानते हैं और सेवा में भी लगे हैं। आप उन्हें पाखण्डी भी नहीं कह सकते। किन्तु वे थकित, निराश, शुष्क एवं अनुपजाऊ महसूस करते हैं। ये लोग वर्षों तक परिश्रम के साथ सेवकाई किए हैं और बाहरी तौर पर जो उनका फल दिखाई देता है, वह भी अब मुरझा कर गिर चुका है। बाहरी तौर पर ये लोग अच्छे व भले-चंगे दिखते हैं किन्तु उनके अन्दर की व्यथा सिर्फ वही जानते हैं। उन्हें ऐसा लगता है जैसे उनका सारा परिश्रम व्यर्थ ही रहा। ऐसे लोग अपनी शक्ति भर सेवा किए हैं। अपने प्रेम, कर्तव्य एवं सेवा-भावना के साथ मिशन कार्य में वफादारी से सेवारत रहे हैं। किन्तु समय के साथ उनमें थकावट, खालीपन, सूनापन, निष्फलता व सूखापन आने लगा। कुछ लोग बाइबल के सिद्धान्तों के बारे में विवाद करते हैं।

जैसे कि दो व्यक्तियों ने तर्क किया कि “आत्मा की सामर्थ्य” का अर्थ ‘विश्वास का जीवन बिताना’ या ‘दीनता में बढ़ना’ है। जिसने विश्वास के जीवन की बात की, वह आध्यात्मिक सेवा में बढ़ता रहा, किन्तु दीन बनने की दलील पर जोर देने वाला व्यक्ति निष्फल प्रयास में लगा रहा। बहुत से लोग इस अवस्था पर **विजय** पाने के लिए ज्यादा प्रार्थना, ज्यादा उपवास, ज्यादा वचन पढ़ने, पाप-अंगीकार या फिर दायित्व-निर्वाह पर जोर देते हैं। यह अच्छी बातें हैं, परन्तु परमेश्वर का उपाय कुछ और है (यूह0 15:6)।

पवित्रशास्त्र के पुराना नियम से एक उदाहरण पर विचार कीजिए। इस्राएलियों को लाल समुद्र पार करके प्रतिज्ञात् देश में जाना था लेकिन अपने अविश्वास के कारण वे बियाबान में ही चक्कर लगाते रहे और परमेश्वर ने चालीस वर्ष तक मन्ना खिला कर उनका पालन-पोषण किया। उस बियाबान में चालीस साल तक चक्कर लगाती इस्राएली मंडली का आत्मिक भोजन वह मन्ना ही था। गिनती की पुस्तक के अनुसार उस मन्ना का स्वाद “तेल में तली हुयी रोटी के समान” था। बाइबेलीय मायने में तेल पवित्र आत्मा का प्रतीक है। प्रतिदिन मन्ना खाने वाले उन इस्राएलियों को मन्ना परमेश्वर की उपस्थिति को दर्शाता था (पवित्र वचन के अनुसार पवित्र आत्मा की एक खास सेवकाई हमें “स्मरण कराना” है)। निर्गमन की पुस्तक के अनुसार मन्ना का स्वाद “शहद के बने हुए पुए के समान” था। इस प्रकार पवित्र आत्मा ने प्रभु के लोगों को यह ‘स्मरण’ कराया कि उन्हें एक ऐसे देश में प्रवेश करना है जहाँ दूध और मधु की धारा बहती है। परमेश्वर-प्रदत्त आत्मिक भोजन को चखने से उसके विश्वासीजन में उसके प्रति और भूख-प्यास बढ़ती है (गिन0 11:7-8; यूह0 14:26; निर्ग0 16:31)।

इस्राएली लोग मरुभूमि में रोज-ब-रोज मन्ना रूपी भोजन खाते रहे। हमारे लिए भी वचन रूपी दैनिक भोजन लेना जरूरी है। उनका प्रतिदिन के लिए मन्ना इकट्ठा करना दैनिक आवश्यकता-पूर्ति के लिए प्रभु की ओर से पाने-अपनाने की आवश्यकता को दर्शाता है। पवित्र वचन का दैनिक मनन-चिन्तन महत्वपूर्ण है। बहरहाल, इस्राएली लोग मन्ना खाते-खाते उसके बारे में शिकायत करने लगे, मन्ना खाकर ऊबने लगे थे। क्या हम विश्वासी लोग भी कभी-कभी ऐसा ही महसूस नहीं करते? इसके अलावा यह भी ध्यान देने योग्य है कि पवित्र वचन के दैनिक मनन-चिन्तन के द्वारा प्रभु परमेश्वर हमें उसके मीठे, गहरे ज्ञान एवं सच्चाईयों की ओर बढ़ाता है, जो अन्ततः हमारे प्रतिज्ञात् देश की ओर ले जाती हैं। हमारा प्रतिज्ञात् देश कोई भौतिक (भौगोलिक) स्थान नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक भरपूरी का स्थान (अवस्था, श्रेष्ठ स्थिति) है। परमेश्वर के वचन का अध्ययन हमें मसीह में प्राप्त हमारी आत्मिक मीरास को दर्शाता है और इस प्रकार हमें हमारे आध्यात्मिक कनान की ओर ले जाता है (व्यव० ८:२-३; गिन० ११:६; व्यव० ८:७-९; गला० ५:२२-२३; इफि० ५:१८-२१)।

इस्राएलियों के बारे में पुनः विचार करें! वे मन्ना खाते-खाते ऊब गये थे, अब उन्हें मन्ना पसन्द नहीं आता था। यदि हम विश्वासी जन ईमानदारी से स्वीकार करें तो हममें से बहुत से लोग अपने बाइबल-चिन्तन एवं अन्य आत्मिक व्यायाम रूपी अभ्यास से ऊबने लगते हैं। यह सब कई बार नीरस, थकाऊ एवं ऊबने वाला लगता है। हाँ, कई बार रीति-विधि के रूप में हम मशीन की तरह इन अभ्यासों में लगे रहते हैं, आत्मिक सुख, साधन या लाभ की बात भूल जाते हैं। इस प्रकार के विश्वासी का जीवन, दूसरा राजा के दूसरे अध्याय के उन्नीसवें पद की ऊसर जमीन जैसा अनुपजाऊ

लगने लगता है। परन्तु यहां इस सच्चाई को स्मरण रखना बहुत महत्वपूर्ण है कि इस्राएलियों को बियाबान में मन्ना रूपी भोजन उन्हें जीवित रखने के लिए प्रदान किया गया था, उन्हें तृप्त करने के लिए नहीं। रोचक है कि उन चालीस वर्षों के दौरान इस्राएली लोग कभी संतुष्ट (तृप्त) नहीं दिखे। क्यों? क्योंकि मन्ना तो उन्हें जिन्दा रखने के लिए दिया गया था, तृप्त करने के लिए नहीं। परमेश्वर का उद्देश्य यह नहीं था कि इस्राएली लोग उस बियाबान में ही तृप्त-संतुष्ट रहें। उन्हें तो केवल प्रतिज्ञात् देश में ही तृप्त-संतुष्ट होना था। यही तथ्य हमारे लिए भी सच है। परमेश्वर हमें भी बियाबान में तृप्त नहीं करेगा। (हाँ, कठिन परिस्थितियों में परमेश्वर का वचन हमें जिन्दा रखेगा लेकिन पूर्णरूपेण संतुष्ट-तृप्त नहीं करेगा)।

राजाओं की दूसरी पुस्तक के दूसरे अध्याय में ही अशुद्ध जल एवं 'ऊसर या अनुपजाऊ' भूमि के उपचार की भी बात की गई है, अर्थात् थकित, ऊबे हुए और अनुत्पादक जीवन के इलाज की बात। एलीशा ने नमक को ही उस अशुद्धता एवं ऊसरता का समाधान बताया। पुराना नियम में नमक को पुनर्जीवित प्रभु यीशु का प्रतीक माना जाता है। अतएव ऊसर एवं हताश, निराश जीवन का सच्चा उपचार या समाधान क्या है? प्रभु यीशु मसीह। वह हमें सिर्फ नरक से बचाने नहीं आया। वह तो हमें बहुतायत का जीवन देने आया। पौलुस अपनी शारीरिकता के संघर्ष में कहता है : "मैं कैसा अभाग्य मनुष्य हूँ। मुझे इस मृत्यु की देह से कौन छुड़ाएगा"? जवाब उसी में दिया है : "प्रभु यीशु मसीह"। मसीहियत मजहब से बहुत बढ़ कर है, यह तो एक जीवन-मार्ग है। मसीही विश्वास का जीवन-तत्त्व यीशु मसीह ही है। पहला थिस्सुलुनीकियों की पत्री में लिखा है कि हमारा "बुलाने वाला विश्वासयोग्य है और वह ऐसा ही

करेगा"। जिसने हमें अपनी इच्छानुसार बुलाया है और जो कुछ करने के लिए बुलाया है, उसे वह हमारे जीवन में और हमारे जीवन के द्वारा अवश्य पूरा करेगा। उदाहरण के लिए उसने हमें "पवित्र होने के लिए बुलाया है", क्योंकि वह पवित्र है। जिसने हमें पवित्रता के जीवन में बुलाया है, वह महापवित्र परमेश्वर विश्वसनीय है और वह हमारे जीवन में अपनी पवित्रता का काम पूरा करेगा (दू0राजा 2:19-22; यूह0 15:4-5; यूह0 10:10; रोमि0 7:24-25; प0थिस्स0 5:24 व 4:7)।

पवित्रशास्त्र के अन्य कई पद इस सच्चाई को उजागर करते हैं कि हमें सिर्फ मसीह की उद्धारक मृत्यु पर ही नहीं, बल्कि उसके पुनरुत्थान जीवन पर भी विश्वास करना है जिसे वह हमारे जीवन के द्वारा जीना चाहता है। उसकी मृत्यु के द्वारा हमारा उससे मेल-मिलाप हो गया है अर्थात् उसके शत्रु के बजाय अब हम उसके मित्र हो गए हैं। इसके अतिरिक्त रोमियों के पाँचवें अध्याय के दसवें पद में ही यह भी लिखा है कि "हम उसके जीवन द्वारा" उद्धार पाते हैं, और यहाँ उद्धार से तात्पर्य है "दैनिक तौर पर पाप की अधीनता से मुक्त किया जाना"। इस प्रकार हमें मसीह से प्राप्त नए जीवन पर निर्भर रहना सीखना है। इसीलिए श्री माइल्स स्टैन्फोर्ड ने कहा है : "बहुत से विश्वासियों का, परमेश्वर से मदद मांगना छोड़ देने का समय आ चुका है। परमेश्वर ने मुक्ति पाने में हमारी मदद नहीं की, और मसीही जीवन जीने में भी वह मदद नहीं करना चाहता। अपरिपक्वता मसीह को सिर्फ मदगार मानती है, लेकिन परिपक्वता तो मसीह को अपना जीवन-सार जानती-मानती है"। इसलिए अन्य किसी ने कहा है कि मसीही जीवन जीना सिर्फ कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव है - कहने का मतलब यह है कि ख्रीष्ट यीशु बगैर मसीही जीवन असम्भव है (फिलि0 2:13; इब्रा0 13:20-21; रोमि0 5:10)।

पवित्रशास्त्र में लिखा है कि हम "मसीह के सह-उत्तराधिकारी" हैं। यदि हम उस पर भरोसा करते हुए विश्वास के सहारे जीवन बिताते हैं तो वह तथा जो कुछ उसका है, वह सब हमारा होता है। यदि हमें यह सब अपनाना है, तो उस पर विश्वास एवं भरोसा करना है। वर्तमान में हम जिस अनुग्रह में स्थिर हैं, उसमें विश्वास के द्वारा प्रवेश पाते हैं। इस प्रकार मसीही जीवन जीने के लिए विश्वास ही प्रमुख तत्व है। यही विश्वास रूपी पाठ अब्राहम को भी सीखना पड़ा था, जबकि उसने परमेश्वर के वायदों पर विश्वासपूर्वक भरोसा रखा और अविश्वास के कारण विचलित नहीं हुआ। मसीही जीवन का मतलब मसीह की मदद से जीवन बिताना नहीं है, बल्कि हमारे जीवन में मसीह द्वारा अपना जीवन जीना है। इसीलिए पौलुस कहता है कि "मेरे लिए जीवित रहना मसीह है"। प्रायः विश्वासी लोग मसीही जीवन जीने के लिए परमेश्वर की मदद मांगते दिखाई देते हैं, जबकि पवित्रशास्त्र यह दर्शाता है कि परमेश्वर वह सब कार्य पहले से ही कर चुका है जिसके लिए हम दुआ कर रहे हैं। उदाहरण के लिए, परमेश्वर उद्धार-कार्य के बारे में हमारी दुआ का जवाब नहीं देगा, क्योंकि वह हमारे उद्धार का काम पहले से ही पूरा कर चुका है। कई मायने में यही सिद्धान्त मसीही जीवन के बारे में भी सच है। मसीह यीशु ही हमारे आत्मिक जीवन का सर्वस्व है। उससे लगातार मदद मांगते रहने से परमेश्वर को आदर-मान नहीं मिलता। फिलिप्पियों की पुस्तक के चौथे अध्याय के उन्नीसवें पद के आधार पर आप कब तक उससे मदद ही मांगते रहेंगे? हमें परमेश्वर के वचन से अपनी आत्मिक आशिषों एवं उत्तराधिकार को पहचानना है और आवश्यकतानुसार विश्वास के साथ इन्हें अपनाना है (रोमि0 8:17; इब्रा0 4:2; रोमि0 5:2; कुलु0 2:6-10; रोमि0 4:19-21; गला0 2:20; फिलि0 1:21; दू0पत0 1:3-4; प0कुरि0 3:21,23)।

परिष्कार

“परमेश्वर ही सबसे बड़ा किसान है। वह भूखे मन वाले विश्वासी का आत्मिक विकास नीचे की ओर अर्थात् गहराई में करता है। पिता परमेश्वर धैर्यपूर्वक, निरन्तर एवं कष्टप्रद तरीके से हमारी शारीरकता की पोल की खुदाई करता है जिससे हमारी वास्तविक दशा हम पर प्रकट हो जाए” (एम0जे0 स्टेन्फोर्ड)। जैसे कोई किसान अपने खेत की जुताई, गोड़ाई एवं सफाई करता है ताकि वह और अधिक उपजाऊ बने, उसी प्रकार परमेश्वर हमारे मसीही जीवन को भी परिष्कृत करता है। दूसरा कुरिन्थियों की पत्री के चौथे अध्याय से यह ज्ञात होता है कि प्रभु परमेश्वर प्रथमतः हमें इसलिए परिष्कृत करता है ताकि दूसरों की सेवा हेतु हमें उपयोगी बनाए। इससे पहले कि हम दूसरों के लिए आशीष का कारण बनें, इससे पहले कि हम दूसरों को सुधार और परिष्कार की ओर बढ़ाएं, परमेश्वर हमारे जीवन को परिष्कृत करता है, सुधारता है और सफाई करता है। यहां यह भी स्मरण रखना है कि यह सुधार, सफाई एवं परिष्कार-कार्य पवित्र आत्मा द्वारा होता है ताकि विश्वासीजन मसीह के स्वरूप में बढ़ता जाए, जो कि परमेश्वर का प्रमुख लक्ष्य है (दू0कुरि0 4:10-12; कुलु0 1:24; दू0कुरि0 1:3-5; भज0 40:1-3; दू0कुरि0 3:18; गला0 4:19)।

प्रत्येक मनुष्य एक खास तरह का इंसान होता है। कहने का मतलब यह है कि हमारी बातें ही हमारे बारे में सब कुछ नहीं बतातीं बल्कि हमारा कार्य-व्यवहार भी बताता है। विश्वासीजन के व्यवहार एवं बातों में समरूपता होनी चाहिए। अनेक विश्वासी अच्छी-अच्छी

बातें तो सिखाते हैं, किन्तु स्वयं उन बातों को नहीं अपनाते। प्रभु यीशु को फरीसियों के जीवन में यही समस्या दिखायी दी। परमेश्वर की दृष्टि में हमारी बातें नहीं बल्कि हमारा अन्दरूनी जीवन एवं व्यवहार महत्वपूर्ण है। विश्वासियों को ईश्वरपरायणता में बढ़ना है, अर्थात् हमारे जीवन में मसीह के जीवन-स्वभाव का विकास (मत्ती 23:1-33; प0पत0 5:2-3; प0तीमु0 4:12; प0थिस्स0 2:7-12)।

कुछ समय पहले मेरे शहर के एक पन्द्रह वर्षीय लड़के ने स्वयं को गोली मार कर आत्महत्या कर ली। बाद में यह ज्ञात हुआ कि उसके घर-परिवार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जो ईश्वरीय भक्ति का जीवन-उदाहरण रहा हो। इस प्रकार सम्भवतः उसे सुसमाचारीय आशा का संदेश भी नहीं मिला। परन्तु प्रश्न यह है कि कोई ईश्वर-भक्त कैसे बनता है? ईश्वर की नकल करके? मसीह की नकल करके? नहीं। बल्कि परमेश्वर द्वारा मनुष्य के जीवन में अपना जीवन-स्वभाव उपजाने या विकसित करने से। मसीह द्वारा मसीही के जीवन में अपना जीवन-स्वभाव पुनरुत्पादित या विकसित करना मसीह के स्वरूप में बढ़ना है। मसीह के स्वभाव में विकास उसकी नकल से सम्भव नहीं है। इसके बजाय ख्रीष्ट द्वारा हमारे जीवन में अपना जीवन पुनरुत्पादित करने के द्वारा ही सम्भव है। ध्यान रहे कि हमारे जीवन में ख्रीष्ट-जीवन के अंकुरित होने व विकसित होने से पूर्व हमारा अहं (शारीरिकता) का जीवन क्रूसित होना जरूरी है। जब विश्वासीजन इस सत्य को जान-मान कर जीता है कि उसका पुराना मनुष्यत्व मसीह के साथ क्रूस पर क्रूसित हो चुका है, तब ख्रीष्ट-जीवन उसके जीवन में अंकुरित होने व उपजने लगता है (फिलि0 1:21; गला0 2:20)।

इस प्रकार मसीही जीवन को मसीह के बगैर परिभाषित नहीं किया जा सकता (प0कुरि0 2:1-2)। मसीह बगैर मसीही जीवन

जीना भी असम्भव है। यदि हमारे मसीही जीवन की अन्य किसी प्रकार से व्याख्या की जा सकती है - मानवीय प्रयास, इच्छा-शक्ति, योग्यताएं, रुपया-पैसा, साहस, ज्ञान-बुद्धि, समर्पण, त्याग-तपस्या इत्यादि के द्वारा - तब मसीही जीवन पाने के बावजूद हम उसे जी नहीं रहे हैं। यदि हमारे मसीही जीवन की मानवीय व्याख्या सम्भव है तब तो हमारे तथा हमारे अविश्वासी मित्रों में कोई भिन्नता नहीं है। सिर्फ यही अन्तर है कि हम धार्मिक दिखते हैं। इससे पहले के पन्नों में हमने पुराना नियम के कुछ उदाहरणों द्वारा आध्यात्मिक सच्चाईयों को देखा : लाल समुद्र पार करने, यरदन पार करने, प्रतिज्ञात् देश में प्रवेश इत्यादि। हमने यह भी देखा कि इस्राएली लोगों को अपने अविश्वास के कारण चालीस वर्षों तक बियाबान में भ्रमण भी करना पड़ा। इसके अतिरिक्त मन्ना के सम्बन्ध में भी हमने विचार किया, जो कि परमेश्वर के वचन के दैनिक मनन-चिन्तन की तस्वीर है। अब हम फसह के उदाहरण द्वारा आत्मिक सच्चाईयों की ओर ध्यान देंगे।

पवित्रशास्त्र के पुराना नियम में फसह पर्व का वर्णन किया गया है। निर्गमन की पुस्तक के बारहवें अध्याय में इस्राएलियों द्वारा परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार फसह पर्व मनाने का वर्णन है, जो कि उद्धार-कार्य की एक तस्वीर प्रस्तुत करता है। नया नियम में मसीह को हमारे फसह का मेमना कहा गया है। फसह का पर्व एक विशिष्ट दिन होना था। फसह-पर्व मनाने की विधि पर विचार करें। जिस दिन फसह के मेमने को वध करके उसका लहू इस्राएलियों के दरवाजों व चौखटों पर लगाया जाना था, उस दिन उन्हें पूरी तैयारी की हालत में रहना था - एक यात्रा के लिये तैयार। एक लम्बी यात्रा के लिये तथा एक नये देश में नये जीवन के लिये तैयार। उस दिन से उनकी जिन्दगी बिल्कुल भिन्न होने वाली थी। यही हमारे उद्धार-प्राप्ति के समय भी होना चाहिए (निर्ग० 12:1-11; प०कुरि० 5:7)।

इस्राएलियों को मिस्र से प्रस्थान करके कनान देश में जाना था। परन्तु अपने अविश्वास के कारण वे लोग चालीस साल तक मरु क्षेत्र में ही चक्कर लगाते रहे। यह स्पष्ट नहीं है कि परमेश्वर ने उन्हें उस बियाबान में भी प्रतिवर्ष फसह मनाने का निर्देश दिया। लेकिन यदि ऐसा निर्देश था, तो? एक बात स्पष्ट है कि फसह उनके मिस्र से प्रस्थान (छुटकारे) का प्रतीक था। कल्पना कीजिए कि कोई इस्राएली बालक सुबह, दोपहर व शाम को मन्ना खाने के बावजूद जब फसह मनाने का अर्थ सुनता होगा तो सम्भवतः यह कहता होगा कि हम यह पर्व क्यों मना रहे हैं? मैंने तो यह सुना है कि मिस्र में हालात इससे अच्छे थे। ज़रा सोचिए! कहीं ऐसा तो नहीं कि इसीलिए बहुत से मसीही परिवारों में पलने-बढ़ने वाले बच्चे उद्धार-विहीन अवस्था में पाए जाते हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि तमाम विश्वासी माँ-बाप आत्मिक बियाबान की जिन्दगी जी रहे हैं और अपने बाल-बच्चों के समक्ष सच्ची ईश्वरपरायणता के उदाहरण नहीं हैं? ऐसे घर-परिवार के बच्चों को जीवित मसीह की सहभागिता में चलने वाले विश्वासी जीवन का उदाहरण देखने को नहीं मिलता। ऐसे बच्चों को मसीही जीवन-आनन्द (यानि पवित्र आत्मा के फलों) को देखने का अवसर नहीं मिलता। ऐसे बच्चे अपने उद्धार-विहीन (गैर-मसीही) मित्रों को देखकर "मिस्र की ही जिन्दगी को बेहतर" मानते हैं। कहने का मतलब यह है कि बच्चों को ईश्वरपरायणता में बढ़ाने हेतु, हमें ईश्वरपरायण होना आवश्यक है। कई साल पहले मैं एक ऐसे मिशनरी से मिला जो पहले ईश्वर-विरोधी एवं विद्रोही व्यवहार का लड़का था। जब मैंने उससे यह पूछा कि आप एक विद्रोही व्यवहार वाले युवक से आज मिशनरी सेवक कैसे बन गये? उसका जवाब था : 'क्योंकि मेरे पिता को अपने हरेक कार्य-व्यवहार में परमेश्वर ही दिखाई दिया'। उस ईश्वर-भक्त

मसीही पिता के बारे में उसके पुत्र की कितनी सुन्दर साक्षी। ईश्वर भक्ति (ईश्वरपरायणता) कैसी दिखती है? ख्रीष्ट-स्वरूप या ख्रीष्ट का स्वभाव कैसा दिखता है? (निर्ग० 13:4-8; फिलि० 2:5-8; प०कुरि० 13:4-7; गला० 5:22-23)।

पुराना नियम से एक अन्य उदहरण पर विचार करें। व्यवस्था विवरण की पुस्तक के बारहवें अध्याय पर ध्यान दें। अपनी प्रजा इस्राएलियों से परमेश्वर यह कह रहा था कि प्रतिज्ञात् देश में पहुँच कर उन्हें आनन्दित होना है। उनके सम्पूर्ण जीवन को आनन्द मग्न होना था। आठवें पद से यह भी ज्ञात होता है कि बियाबान की जिन्दगी में "जिसको जो भाता था वही करता था", इसीलिए मसीही जीवन आनन्दमय होने के बजाय बोझिल एवं कष्टमय लगता है। स्पष्ट है कि जब तक हम 'वही करते रहते हैं जो हमें स्वयं को भाता है' तब तक हम परमेश्वर के विश्राम-जीवन और उससे प्राप्त मीरास में प्रवेश नहीं किए हैं। जब हम परमेश्वर के विश्वास-विश्राम में प्रवेश करते हैं तो मनमानी करने के अधिकार को त्याग देते हैं। क्या हम विश्वासियों को अपना कुछ अधिकार है? मेरा मतलब है कि क्या परमेश्वर के समक्ष हमारा कोई अधिकार है? मानें या न मानें, हममें से अनेक विश्वासी अपने कार्य-व्यवसाय, जीवन-साथी, रुपया-पैसा खर्च करने, घर-मकान के बारे में प्रायः वही निर्णय लेते हैं जो हमें भाता है। क्या हमें सदैव मनमानी करने का यह अधिकार है? नहीं। सिर्फ बियाबान में जीवन बिताने वाले विश्वासी ही ऐसा करते हैं (व्यव० 12:1-9; नीति० 1:32; 14:12)।

अपने आपे, अहं, स्वार्थ या शारीरकता के प्रति मृतक मसीही (विश्वासी) किसी ऊँची पहाड़ी पर रखे चिराग की तरह है। हमारे चहुँओर के लोग अपनी मनमानी का जीवन जीते हुए

स्वार्थ-सिद्धि में ही लवलीन हैं। परन्तु अपने स्वार्थ के प्रति मृतक मसीही ज्यातिर्मय होता है, लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं। ऐसा जन अपने लोगों के समक्ष एक उदाहरण एवं उनकी देखभाल करने वाला होता है। कितनी दुःखद बात है कि बहुत से लोग उद्धार पाने यानि विश्वास में आने के बाद ठोस आत्मिक भोजन एवं पालन-पोषण से वंचित रहते हैं, ऐसे बच्चों की तरह, जिनका पालन-पोषण व देखरेख करने वाला कोई नहीं है। बहुत से नये विश्वासी ऐसी परिस्थिति में पाये जाते हैं और उनसे सम्बद्ध लोग उनकी सही तौर पर आत्मिक देखरेख नहीं कर पाते। परन्तु ऐसे नये विश्वासियों की समुचित देखभाल व पालन-पोषण करना आवश्यक है जिससे कि वे मसीह में स्थिर व सुदृढ़ किए जाएं (प0पत0 5:2; कुलु0 2:7)।

दूसरों की आध्यात्मिक सेवा करने के लिए स्वयं हमारे जीवन में आत्मिक परिष्कार का कार्य होना आवश्यक है। जिस हद तक हमारे जीवन में प्रभु की जुताई, गोड़ाई, परिष्कार, कांट-छांट का काम हो चुका है, उसी हद तक हम दूसरों की इस दिशा में सेवा-सहायता कर सकेंगे। इसी बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जिन पाठों को हमने जीवन में सीखना शुरू कर दिया है, उन्हें ही दूसरों को सिखा सकते हैं। प्रभु परमेश्वर जिन लोगों को दूसरों की सेवा के लिए सामर्थी रूप में इस्तेमाल करना चाहता है, उन्हें कठिन परिस्थितियों के द्वारा ही शिक्षित-प्रशिक्षित करके तैयार करता है। कठिनाईयों से गुजरते हुए एक विश्वासी की व्यथा को सुन कर एक पास्टर ने यह कहा, “इतनी कठिनाई में ले जाने का मतलब परमेश्वर ने आपके लिए कुछ खास सेवकाई रख छोड़ी है। क्या पता, एक दिन आप किस खेदित-दुःखित जन की महत्वपूर्ण सेवा-सहायता में इस्तेमाल किए जाएंगे” (यूह0 15:1-2; इब्रा0 10:32)।

स्थायित्व

यहाँ 'स्थायित्व' शब्द में दृढ़ता, स्थिरता, निरन्तरता एवं धैर्य का भाव पाया जाता है, अर्थात् प्रभु पर विश्वास रखते हुए, जीवन के हर आंधी-तूफान से होकर आगे बढ़ते रहना। यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि आत्मिक विकास की बातें पढ़ने मात्र से आत्मिक विकास नहीं होता, यह दिमागी नॉलिज मात्र नहीं है। हो सकता है, आप यह सोच रहे हों कि मैंने यह बातें कई बार पढ़ी-सुनी हैं, मुझे तो परिपक्वता की छलांग लगाने की क्षमता मिलनी चाहिए। परन्तु परमेश्वर हमारे तरीके से काम नहीं करता।

माइल्स जे० स्टैन्फोर्ड ने "आध्यात्मिक विकास के सिद्धान्त" नामक पुस्तक के आखिरी अध्याय में यह लिखा है : "जब प्रभु का भूखा-प्यासा नया विश्वासी अपनी इस विश्वास-यात्रा में आगे बढ़ता है तो प्रायः उसमें यह सोचने की प्रवृत्ति पाई जाती है कि उसने बहुत आत्मिक उन्नति कर ली है, जबकि हकीकत में अभी शुरुआत ही हुई है। जैसे-जैसे प्रभु परमेश्वर हमें अपनी सहभागिता की गहराई में ले जाता है, वैसे-वैसे हम यह समझने लगते हैं कि अभी भी आध्यात्मिक विकास के अनेक विशाल एवं असीम क्षेत्रों में प्रभु द्वारा हमारी अगुवाई होनी शेष है" (निर्ग० 23:29-30)।

"आत्मिक विकास के इन क्षेत्रों में से अनेक तो ऊसर भूमि के समान हैं - ऐसे दिन जबकि न तो कोई आत्मिक गतिविधि है, न तो कोई सेवा-कार्य, और प्रभु के साथ नाम-मात्र की संगति या बिल्कुल ही कोई संगति नहीं, और दूसरों के साथ भी संगति-सहभागिता नहीं। अगर थोड़ी-बहुत प्रार्थना है भी तो बेमन से की जाती है, और

कभी-कभी तो कई महीनों तक प्रार्थना भी नहीं हो पाती। बाइबेल-अध्ययन की आदत खत्म हो जाती है। सब कुछ या समस्त कार्य-प्रयास व्यर्थ प्रतीत होने लगता है। ऐसे कठिन समयों में विश्वासीजन यह सोचने लगता है कि शायद परमेश्वर भी अपना दायित्व छोड़ बैठा है, और इस प्रकार विश्वासी इस विश्वास-पथ पर बने रहना बेकार समझने लगता है। परन्तु इतना होने के बावजूद उसके अन्तर्मन में एक ऐसी भूख पायी जाती है जो विश्वासी को इस पावन पथ के परित्याग से रोके रहती है” (दू०तीमु० २:१९; भज० ६३:१-८; भज० ७३:१-२६)।

“अब यह प्रश्न उठता है कि क्या प्रभु परमेश्वर से हम तब तक ही प्रेम रखें, उस पर तब तक ही भरोसा रखें और उसके प्रति तब तक ही जवाबदेह रहें जब तक वह हमें आशिष देता रहता है? यह कैसा प्रेम होगा? स्वार्थ-सिद्धि वाला प्रेम? समय-समय पर प्रभु परमेश्वर हमें असहाय व कंगालपन की दशा में ले जाकर इसलिए हमारा भंडाफोड़ होने देता है कि हम उसे अपना एकमात्र स्वर्गिक पिता पहचान कर उससे प्रेम रखना, उस पर भरोसा रखना और उसके प्रति प्रत्युत्तर देना सीखने का सुअवसर पाएं। वह यह जानता है कि हमारे आत्मिक जीवन विकास में क्रूस का क्या अभिप्राय है, वह हमारे जीवन में कार्यकारी होने वाले उस मृत्यु-प्रभाव (क्रूसित होने के प्रभाव) को भी जानता है जो कि पुनरुत्थान जीवन के लिए आवश्यक है, वह उन हताश, फलहीन व दुःखित लोगों के दुःख-दर्द व ज़रूरतों से भी सुपरिचित है जिनकी हमारे द्वारा भविष्य में सेवा-सहायता करवाना चाहता है। अतः हमें वह ऐसे विश्वासी के रूप में तैयार करना चाहता है, जो अपने जीवन में होने-जाने या घटित बातों की चिन्ता किए बगैर प्रभु परमेश्वर के प्रति विश्वस्तता को ही सब कुछ समझता है” (फिलि० ३:७-८; दू०तीमु० ४:१६-१८)।

नया नियम में बैतनिय्याह की मरियम के बारे में पढ़ने से ऐसा आभास मिलता है जैसे कि उसके जीवन में प्रभु यीशु से बढ़ कर अन्य किसी का स्थान नहीं था। उसके बारे में जब भी उल्लेख किया गया है तो वह यीशु के चरणों के पास दर्शायी गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि मसीह के बारे में उसे जितनी बातें मालूम थीं उतनी अन्य किसी को नहीं। अपनी मृत्यु के बारे में मसीह यीशु ने उसे तीन बार बताया था और ऐसा लगता है कि केवल मरियम ने ही इस सच्चाई को समझा। इसके अतिरिक्त, लोगों में मरियम के बारे में अनेक बार गलतफहमी दिखायी दी। जब उसे गलत समझा गया तो प्रभु यीशु ने उसका पक्ष-समर्थन किया (यूह0 12:1-8; लूका0 10:38-42; यूह0 11:28-32)।

प्रभु परमेश्वर हमारे जीवन में इस प्रकार कार्य कर रहा है कि हमें ऐसे मुकाम पर लाए जबकि उसके अलावा अन्य सब कुछ गौड़ हो जाए। प्रायः यह एक लम्बी प्रक्रिया होती है। इतना ही नहीं, यह एक कष्टकर लम्बी प्रक्रिया होती है। कुछ वर्ष पहले एक विश्वासी ने अपनी दुःखद दशा को हमें सुनाया जबकि उसकी पहली पत्नी उसे छोड़ कर चली गयी थी और वह बहुत चोटिल एवं निराश था। पत्नी के जाने के लगभग तीन हफ्ते बाद उसने पवित्रशास्त्र के इस पद को पढ़ा, "जब तू मनुष्य को अधर्म के लिए डांट-फटकार कर ताड़ना देता है, तब तू उसके सौन्दर्य को पतंगे के समान नष्ट करता है। निश्चय हर मनुष्य स्वास-मात्र ही है"। कुछ दिन बाद जब वह फिर मुझसे मिला तो उसने कहा कि अब वह समझने लगा है कि प्रभु परमेश्वर उसके जीवन को परिष्कृत करने के लिए काट-छांट कर रहा है और इस सुधारने-संवारने की कष्टकर प्रक्रिया में उसने उससे उसकी सर्वप्रिय चीज भी छीन लिया है जिससे कि वह परमेश्वर को ही सबसे महत्वपूर्ण समझकर उसी में संतुष्ट-तृप्त रहना सीखे -

केवल वह और उसका प्रभु परमेश्वर। दिलचस्प बात यह है कि कुछ ही दिन बाद उसकी पत्नी पुनः उसके साथ रहने वापस आ गयी (भज0 39:11)।

इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिकतर मसीही अपने विश्वासी जीवन के शुरुआती दिनों में स्व-केन्द्रित भावना से भरे होते हैं, और स्वर्गिक पिता इसे धैर्यपूर्वक सह लेता है। अपने विश्वासी जीवन के आरम्भिक दिनों में प्रायः हम स्व-केन्द्रित होकर यही सोचते हैं कि मसीह मेरे पापों के वास्ते बलि हुआ, परमेश्वर ने मेरा उद्धार किया है, क्रूस तो मेरे वास्ते था, मेरी खुशी और मेरी राहत के वास्ते। इसके अतिरिक्त हम अपने जीवन के हर क्षेत्र में आशीर्वाद के लिए प्रार्थना करते हैं : मुश्किलों से राहत पाने की प्रार्थना, दोष भावना एवं पाप-कर्मों के नतीजतन पैदा हुयी दिक्कतों से राहत पाने की प्रार्थना और परमेश्वर से सुख, शांति और आनन्द की ही कामना करते हैं। इस प्रकार हमारा प्रारम्भिक विश्वासी जीवन अपरिपक्वता और स्व-केन्द्रित नीयत-भावनाओं की अधीनता से प्रभावित रहता है। लेकिन परमेश्वर अपने समय पर उस बुराई को बेपर्द करता है जो हममें से प्रत्येक के जीवन में वास करती है। यह खुलासा हमारे आत्मिक जीवन में पतन, पराजय या बुराई में फँसने के द्वारा होता है (रोमि0 7:17; 7:20; 7:23-24)।

पाप या बुराई के साथ इस असफल संघर्ष के बाद ही विश्वासी जन मसीह के साथ अपनी वास्तविक आध्यात्मिक पहचान सम्बन्धी सच्चाईयों को विश्वासपूर्वक अपनाने की आवश्यकता को देखता व आगे बढ़ता है। जब रोमियों के छठवें अध्याय में दिए गये 'मसीह के साथ पुराने मनुष्यत्व के सह-क्रूसित होने' सम्बन्धी सच्चाईयों को हम अपनाने लगते हैं तो पाप की सत्ता एवं अधीनता

से मुक्त होने का रसास्वादन करने लगते हैं और हमारे दैनिक जीवन आचरण से "शरीर" के कामों की अधिकता के बजाय आत्मा के फल ज्यादा प्रकट होते हैं (रोमि0 6:6-14)।

हो सकता है कि हममें से बहुत से लोग विश्वासी जीवन की इसी अवस्था में हैं। अर्थात् प्रभु की दया में पाप की दासता से स्वतंत्रता का अनुभव आरम्भ हुआ है। परन्तु इन गहरी आत्मिक सच्चाईयों में प्रवेश करते हुए भी, अनेक लोग मसीह में लवलीन रहने के बजाय अपने स्व-केन्द्रित आशिषों में ही ज्यादा रुचि लेते हैं। अफसोस है कि ऐसे आत्मिक विकास के समय भी अनेक विश्वासी 'अपने आप' में ही लवलीन रहते हैं अर्थात् अपने सुख, शांति एवं स्व-नियंत्रण में ही लवलीन रहते हैं, न कि इन सबके दाता प्रभु परमेश्वर में। अनेक विश्वासी प्रभु परमेश्वर को जानने के बजाय सिर्फ पाप से स्वतंत्रता जानना चाहते हैं; सिर्फ सत्य को जानना चाहते हैं; सिर्फ शांति को जानना चाहते हैं (फिलि0 3:10; यूह0 17:3)।

इस आध्यात्मिक परिष्कार-यात्रा में प्रभु परमेश्वर कुछ विश्वासियों को 'उड़ाऊ पुत्र' के मार्ग पर भी जाने देता है। 'उड़ाऊ पुत्र' की कहानी पर ध्यानपूर्वक विचार करने से वहां भी आपको 'मृत्यु एवं पुनरुत्थान' का आत्मिक सिद्धान्त मिलेगा (लूका 15:24)। यह सिद्धान्त सम्पूर्ण बाइबल में दर्शाया गया है। उड़ाऊ पुत्र की कहानी में इस बात पर भी विचार करना नहीं भूलना चाहिए कि वह अपनी श्रेष्ठ-स्थिति से नीचे ही नीचे गिरता गया, तथा बाद में और अधिक श्रेष्ठ अवस्था (महिमा) को पहुँचा। उड़ाऊ पुत्र के बारे में यह भी ध्यान दें कि उसके पिता ने उसे असफल होने दिया और वह असफलता उड़ाऊ पुत्र की भलाई हेतु इस्तेमाल हुई (लूका 15:11-24;

रोमि0 6:3-5; भज0 71:20-21; अय्यूब 42:10-17; फिलि0 2:5-11; रोमि0 8:28)।

इस प्रकार का (“ऊपर का मार्ग नीचे से होकर”) विरोधाभासी विकास विश्वासी के मन में यह विचार पैदा कर सकता है कि प्रभु परमेश्वर ने उसे त्याग दिया है। कई साल पहले की बात है कि प्रभु ने इसी प्रकार की परिष्कार-प्रक्रिया एक अत्यन्त स्व-अवलम्बी एवं आत्म-केन्द्रित मिशनरी सेवक के जीवन में आरम्भ की। वह अपने प्रार्थना-जीवन पर इतना अधिक भरोसा करता था कि वह यह कहने से नहीं हिचकता था कि परमेश्वर उसकी हरेक प्रार्थना का उसके निवेदन के अनुसार जवाब देता है, और वह यह कल्पना नहीं कर सकता कि प्रभु उसकी चाहत के विपरीत उत्तर देगा। कुछ समय बाद एक नवजवान मसीही उससे यह बोला कि यदि ऐसा दिन आया कि परमेश्वर ने आपके निवेदन एवं इच्छानुसार आपकी प्रार्थना का जवाब नहीं दिया तो आप क्या करेंगे? उसने कहा कि वह ऐसे दिन की कल्पना ही नहीं कर सकता। लेकिन वह दिन दूर नहीं था। एक दिन उसे अन्य साथियों के साथ कहीं जाना था और कुछ मीलों तक पैदल यात्रा करनी थी। थोड़ी दूर पैदल चलने के बाद उसके एक पैर में दर्द होने लगा। पहले उसने इसे एक हल्की सी दिक्कत समझ कर नज़रअन्दाज कर दिया। किन्तु उसका दर्द बढ़ता गया। अन्त में यह दर्द असहनीय हो गया। तब उसने सोचा कि दुआ करेंगे सब ठीक हो जाएगा। परन्तु दर्द इतना अधिक था कि वह दर्द के मारे चिल्लाने लगा - “हे मेरे परमेश्वर, हे मेरे परमेश्वर, तूने मुझे क्यों त्याग दिया है”। बाद में, एक दिन अपनी इस व्यथा की साक्षी देते हुए उसने कहा कि मैं उस दिन दर्द दूर होने की अपनी प्रार्थना का अपनी इच्छानुसार जवाब न पाने से अत्याधिक भ्रमित था। मैं प्रभु की विरोधाभासी प्रक्रिया को नहीं समझा

था। अब मैं समझने लगा हूँ कि कभी-कभी आत्मिक उन्नति का मार्ग आत्मिक अवनति से होकर गुजरता है, अर्थात् 'ऊपर का मार्ग नीचे से होकर' (भज0 51:16-17)।

प्रभु परमेश्वर अपने भक्तों को आत्मिक तौर से संवारने, सुधारने व परिष्कृत करने की अपनी अनवरत प्रक्रिया को तब तक धीमी नहीं करता जब तक कि उसका भक्त उसके समक्ष दीन-मन होकर अपनी लाचारी, असहाय अवस्था को नहीं स्वीकारता। कहने का मतलब यह है कि जब तक उसका विश्वासी जन प्रभु को ही अपना सब कुछ जानने-मानने की मनोवृत्ति में प्रवेश नहीं करता। ऐसा विश्वासी केवल प्रभु परमेश्वर की इच्छा का ही आकांक्षी होता है। ऐसे विश्वासी की अपनी कोई कार्य-योजना नहीं रह जाती। उसके लिए प्रभु परमेश्वर ही सब कुछ है। प्रभु उसे जिधर ले जाए, उधर वह जाने को तैयार रहता है। बहरहाल रोमियों 12:1 की इस आत्मिक अवस्था के मसीही विश्वासी बहुत कम दिखायी देते हैं। इस आध्यात्मिक अवस्था को पौलुस ने अपने मसीही जीवन के आरम्भ में ही पा लिया था। मकीदूनिया की कलीसिया भी इसी प्रकार के आत्मिक अनुभव में विकसित हुई (रोमि0 12:1; प्रेरित0 9:1-6; दू0कुरि0 3:4-5; दू0कुरि0 8:1-5)।

कितना रोचक है कि मकीदूनिया की कलीसिया और पौलुस दोनों का ऐसा आत्मिक विकास हुआ कि उनके लिए प्रभु परमेश्वर ही सब कुछ हो गया। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि दोनों कठिन परिस्थिति में थे - पौलुस अन्धा हो गया था और मकीदूनिया की मंडली गरीबी एवं सतावट सह रही थी। जब विश्वासीजन ऐसा आत्मिक विकास करता है कि प्रभु ही उसका सब कुछ हो जाता है तब वह अपनी प्रत्येक परिस्थिति व अवस्था को प्रोत्साहन जैसा पाता

है - चाहे बियाबान हो या सतावट। यह आत्मिक अवस्था केवल क्रूस के द्वारा "अहं" के अन्त से ही मिलती है। इस प्रकार हम निरन्तर स्थिरता में बढ़ते रहते हैं, क्योंकि प्रभु परमेश्वर अपना कार्य हमारे जीवन में पूर्ण करने में पूर्णरूपेण विश्वासयोग्य है (प0थिस्स0 5:24)।

स्थापना और अवस्था

परमेश्वर के दास श्री वाच मैन नी ने "सिट, वॉक, स्टैन्ड" नामक अपनी रचना में इफिसियों की पत्री की सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक शिक्षा पर प्रकाश डाला है। उस पुस्तक में श्री वाच मैन नी ने इफिसियों की पत्री के पहले से तीसरे अध्याय की सैद्धान्तिक बातों को समझाते हुए 'मसीह में हमारी स्थिति व स्थापना' की बात की है और इसे "बैठाया" (Sit) शीर्षक दिया है। इफिसियों के चौथे अध्याय के पहले पद से लेकर छठवें अध्याय के नौवें पद तक 'संसार में विश्वासी के जीवन' के बारे में व्याख्या की गयी है और इसे विश्वासी का "चलना" (Walk) शीर्षक दिया गया है। इफिसियों की पत्री के शेष पदों में उन्होंने हमारे आत्मिक शत्रु के प्रति हमारे व्यवहारिक रुख की बात की है जिसे "सामना करना" (Stand) शीर्षक दिया है।

सबसे पहले 'बैठने' के बारे में थोड़ा विचार करें। इफिसियों की पत्री के उपयुक्त पहले खंड का "बैठाया" शब्द (1:21; 2:6) ही उस खंड की कुंजी है। पिता परमेश्वर ने मसीह को अपने दाहिनी ओर बैठाया है और उसमें हमें भी बैठाया। सच्चे मसीही जीवन की शुरुआत चलने से नहीं बल्कि बैठने से होती है। इसकी शुरुआत विश्वास के द्वारा स्वर्ग में 'मसीह के साथ' बैठने से होती है। इसीलिए इस पत्री के प्रारम्भ में ही विश्वासी जन को मसीह में स्थापित होने से प्राप्त आत्मिक आशिषों (अधिकार या उत्तराधिकार) में बैठने एवं उनका रसास्वादन करने की दावत दी गई है। आध्यात्मिक मायने में बैठने का अर्थ है - अपना बोझ, व्यथा, अपने

आपको तथा अपने भविष्य को पूर्णतः प्रभु परमेश्वर पर डाल कर विश्राम की अवस्था में होना (इफि० 1:20, 2:6; कुलु० 1:30, 3:1-3; इफि० 1:16-19; प०पत० 5:6-7; मत्ती 11:28; भज० 55:22, 84:5-7; इब्रा० 3:18-4:11)।

सृष्टि के समय प्रभु परमेश्वर ने छः दिन तक कार्य किया और सातवें दिन विश्राम किया। इस प्रकार सातवाँ दिन परमेश्वर का सबत कहलाया, अर्थात् ईश्वरीय विश्राम का दिन। परन्तु आदम के साथ क्या हुआ? आदम छठवें दिन रचा गया। अतः परमेश्वर का सातवाँ दिन आदम के लिए पहला दिन था। परमेश्वर ने छः दिन तक कार्य करके विश्राम किया, किन्तु आदम की जिन्दगी सबत के विश्राम से शुरू हुयी। जरा सोचें, परमेश्वर अपने विश्राम से पहले काम करता है, जबकि मनुष्य को काम शुरू करने से पहले ईश्वरीय विश्राम में प्रवेश करना है। इसका एक खास उदाहरण ख्रीष्तीय सुसमाचार है - उद्धार का सारा काम प्रभु परमेश्वर ने पहले पूर्ण किया, मनुष्य को कुछ नहीं करना है सिर्फ विश्वास से परमेश्वर-कृत उद्धार में प्रवेश करना है।

थाइलैंड देश के कुछ गैर मसीही लोगों को बाइबल की घटनाओं की क्रमिक शिक्षा देते समय जब उनमें से अनेक ने अपनी पापी दशा को पहचानना शुरू किया तो उन्होंने कहा कि हम तो दोषी-अपराधी हैं और नरक में जाएंगे, अब क्या करें? तब मिशनरी शिक्षक ने उन्हें यह याद दिलाया कि जब नूह, लूत तथा मिस्र में व लाल समुद्र के पास इस्राएली स्वयं को बचाने में अपनी असमर्थता को पहचाने तो अन्ततः उन्हें बचाने की पहल एवं उपाय किसने किया। उन गैर मसीहियों ने उत्तर दिया कि प्रभु परमेश्वर ने बचाया। तब मिशनरी शिक्षक कुछ देर तक चुप रहा। थोड़ी देर बाद उस

कक्षा के एक व्यक्ति ने कहा मैं सोचता हूँ कि परमेश्वर हमें भी बचाएगा। परन्तु थोड़ी देर बाद उस झुण्ड का एक अन्य व्यक्ति जोर से बोला, 'मेरा विश्वास है कि वह हमें बचा चुका है लेकिन हम उसके इस काम के प्रति अज्ञानी हैं'। बेशक, प्रभु परमेश्वर सारा जरूरी काम कर चुका है। इस संदर्भ में लूका 14:15-17 पर विचार कीजिएगा तो यह बात साफ हो जाएगी। परमेश्वर ने सब कुछ तैयार कर दिया है। बाइबल-सम्मत मसीहियत यह दर्शाती है कि मसीह यीशु में प्रभु परमेश्वर सब कुछ कर चुका है। अब हमें उसके द्वारा पूर्ण किए जा चुके कार्य का आनन्द लेने हेतु सिर्फ विश्वास के साथ उसमें प्रवेश करना है।

'उड़ाऊ पुत्र' की वापसी के बारे में पुनः विचार करें। उसके पिता को किससे खुशी मिली? क्या उस बड़े बेटे से जो पिता के लिए लगातार काम कर रहा था? नहीं। पिता छोटे बेटे की दीनतापूर्ण वापसी से खुश हुआ और अब उस छोटे बेटे ने सब कुछ पिता पर ही छोड़ दिया था। अतः उसकी वापसी पर पिता ने उससे धन-दौलत का हिसाब नहीं माँगा, फटकार नहीं लगायी; बल्कि उसकी वापसी पर अपनी अपार खुशी का इजहार किया। बेशक उस छोटे बेटे का कार्य-व्यवहार गलत था लेकिन घर-वापसी पर वह अपनी पुर्नस्थापना में विश्राम पाया - एक धनाढ्य पिता का पुत्र (लूका 15:11-32)।

हममें से प्रत्येक जन अपने भौतिक (शारीरिक) जन्म के द्वारा अपनी वर्तमान स्थिति में है। कोई राजा के घराने में पैदा हुआ तो राजकुमार है; कोई साधारण दर्जे के घराने में पैदा हुआ तो साधारण व्यक्ति है। कोई गरीबी, विकलांगता अथवा दुर्बलता की अवस्था में जन्मा हो सकता है। लेकिन इनमें से किसी ने भी अपनी वर्तमान

अवस्था, स्थापना या वंश में पैदा होने के लिए कुछ नहीं किया। इसी प्रकार जब हम आत्मिक जन्म पाते हैं तो परमेश्वर के घराने के हो जाते हैं अर्थात् "मसीह में" स्थापित हो जाते हैं। अब हम मसीह की श्रेष्ठ-स्थिति के हो जाते हैं। हमारा आध्यात्मिक जन्म हमें 'मसीह की' स्वीकार्य स्थिति में स्थापित कर देता है। प्रत्येक विश्वासी इसी नयी स्थिति में स्थापित कर दिया गया है। इस प्रकार हम विश्वासीजन एक नयी सृष्टि हैं। यदि हमारा आत्मिक विकास होना है और हमें फलदायी होना है तो हमें 'मसीह में प्राप्त अपनी श्रेष्ठ-स्थिति' में ही बने रहना है। इस प्रकार हमारी दैनिक अवस्था को हमारी अनन्त अवस्था पर आधारित होना है। मसीह में अपनी स्थापना से हम जो कुछ हैं, वही हमारी अनन्त अवस्था है। यहाँ दैनिक जीवन में हम जो कुछ हैं वह हमारी परिस्थिति या स्थिति है। मसीह में हमारी स्थापना की अनन्त अवस्था अपरिवर्तनीय है। यहाँ इस संसार में हमारी स्थिति परिवर्तनीय है। स्मरण रहे कि मसीह में हमारी स्थापना वाली अनन्त अवस्था हमारी इहलौकिक स्थिति को प्रभावित करती है, लेकिन हमारी इहलौकिक स्थिति हमारी अनन्त अवस्था को प्रभावित नहीं करती। प्रायः पुराना नियम में (नया नियम की) आध्यात्मिक सच्चाईयों की भौतिक तस्वीर पायी जाती है, और इस स्थिति एवं अनन्त अवस्था के बारे में एक उदाहरण दूसरा शमूएल के नौवें अध्याय में पाया जाता है। समय मिलने पर आप इस अध्याय को जब पढ़ेंगे तो ध्यान दीजिएगा कि जिस अवस्था में मपीबोशेत पैदा हुआ था, उसका किस प्रकार प्रभाव उसकी स्थिति पर पड़ा। इसी प्रकार 'मसीह में हमारी स्थापना-स्थिति' के बारे में हमारा विश्वास भी हमारी दैनिक दशा को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ, परमेश्वर की दृष्टि में "मसीह में" हम धर्मी या निर्दोष ठहराए गये हैं, और इस सच्चाई पर जब हम विश्वास करते हैं तो अपनी धर्मी या

निर्दोषिता की अवस्था पर विश्वास-विश्राम करते हुए नरक-दण्ड से मुक्त होकर नयी शांति व आनन्द में जीवन बिताते हैं, और अपने कर्म-प्रयास द्वारा खुदा को खुश करके स्वर्ग जाने की बेकार खरीददारी खत्म करते हैं (यूहो 3:36; प0कुरि0 1:30; प्रेरित0 17:28; दू0शमू0 9; दू0कुरि0 5:17; रोमि0 5:1; गला0 5:22-23)।

इस सच्चाई की पहचान का उद्धार की निश्चयता पर भी असर पड़ता है। "मसीह में" अपनी स्थापना-स्थिति पर विश्वास करने वाले विश्वासी को उद्धार की सुनिश्चयता रहती है। क्योंकि उद्धार की निश्चयता कोई महसूसियत की बात नहीं है। यह तो परमेश्वर द्वारा मसीह में पूरा किए गये कार्य पर विश्वास पर आधारित है। पवित्रशास्त्रीय सच्चाईयों पर विश्वास-विश्राम करने पर पवित्र आत्मा हमें गहन निश्चयता, आनन्द, शांति व स्वतंत्रता प्रदान करता है (रोमि0 8:16; यशा0 32:17)।

स्थापना और स्वीकार्यता का भी गहन सम्बन्ध है। 'मसीह में स्थापित' होने के कारण परमेश्वर के समक्ष हम स्वीकार्य हो चुके हैं। इस स्वीकार्यता की अवस्था को जानने, मानने एवं अपनाने के द्वारा विश्वासीजन विश्राम की दशा में होता है और स्व-कर्म-प्रयास द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न करने की कोशिश से छूटने लगता है। अयोग्य होते हुए भी परमेश्वर के प्रेम का पात्र होने (अर्थात् अनुग्रह) की बात आज के उत्पादकता की प्रवृत्ति या कर्म-प्रधान (व्यवस्था) समाज में एक असामान्य बात लगती है। लेकिन जो विश्वासी परमेश्वर के समक्ष 'मसीह में' अपनी स्वीकार्यता रूपी सच्चाई पर विश्वास-विश्राम करना सीखता है, वह अपने धर्म-कर्म पर नहीं, प्रभु परमेश्वर पर आशा-भरोसा रखने में बढ़ता जाता है (इफि0 1:6; रोमि0 5:6-10; भज0 62:5; दू0कुरि0 3:4-5)।

स्थापना एवं परिपूर्णता का भी परस्पर गहरा सम्बन्ध है। पवित्रवचन के अनुसार हम प्रभु यीशु 'मसीह में' स्थापित होने के द्वारा उसमें परिपूर्ण (सिद्ध) किए गये हैं। अब तथा सदा-सर्वदा तक अपने आत्मिक जीवन के लिए हमें जो कुछ जरूरी है वह सब कुछ प्रभु यीशु में उपलब्ध है। विश्वास के द्वारा इस सच्चाई को अपना कर आत्मिक विश्राम में प्रवेश करने वाले विश्वासी के जीवन में पवित्र आत्मा इस सिद्धान्त को व्यवहारिक तौर पर लागू करता है। अब हमें सिद्धता के लिए आत्म-प्रयास रूपी संघर्ष नहीं करना है, बल्कि इस सत्य को अपना कर विश्वास-विश्राम करना है कि परमेश्वर की दृष्टि में 'मसीह में' हम सिद्ध किए गये हैं (कुलु0 2:6-10; दू0पत0 1:3)।

इसके अतिरिक्त हमारी अनन्त सुरक्षा रूपी सच्चाई भी 'मसीह में' हमारी स्थापना से सम्बद्ध है। उसमें हम बिना शर्त सदा काल के लिए सुरक्षित किए जा चुके हैं। "मसीह में" इस सनातन सुरक्षा रूपी सच्चाई में विश्वास-विश्राम के द्वारा हम अपने उद्धार को खोने की भय-भावना से मुक्त रहते हैं। यदि मसीह ने हमें बचा लिया है तो क्या वह हमें हमारी बची हुयी अवस्था में बनाए (सुरक्षित) रखने में असमर्थ है? (यूह0 10:28-29; दू0तीमु0 1:12; इफि0 4:30; दू0कुरि0 1:22; यहूदा 24)।

इस प्रसंग में मसीह के साथ हमारे 'एकत्व या पहचान' की अवस्था में बने रहने का भी बड़ा महत्व है। नया जीवन पाए अधिकतर मसीहियों की खास समस्या पाप के दोष-दण्ड से छुटकारा पाने की समस्या नहीं है, बल्कि पाप की दासता या अधीनता से स्वतंत्रता की समस्या बड़ी समस्या है। पाप की गुलामी से छुटकारे के लिए हमें 'मसीह के साथ अपनी पहचान और उसके साथ हमारे पुराने मनुष्यत्व के सह-क्रूसित होने' की सच्चाई में

विश्वास-विश्राम करना आवश्यक है। हमारा पुराना मनुष्यत्व, पाप-स्वभाव या आदम-स्वभाव अर्थात् हमारा स्व-केन्द्रित अहं-जीवन ख्रीष्ट के साथ क्रूस पर चढ़ाया गया और उसके साथ गाड़ा गया। यह सब हमारे (पुराने जीवन की) मृत्यु को दर्शाता है। पाप की दासता से छुटकारा, मसीह के साथ सह-क्रूसित होने की सच्चाई को जानने, मानने एवं अपनाने पर निर्भर करता है (रोमि0 6:6-14; गला0 2:20)।

यूहन्ना रचित सुसमाचार के पन्द्रहवें अध्याय के शुरुआती पदों पर ध्यान देने पर यह ज्ञात होता है कि फल को उत्पन्न करने वाला प्रभु ही है। शाखाएं अपने अथवा फलों के लिए कुछ भी उत्पन्न नहीं करतीं। दाखलता की जड़ या स्रोत से पूरे पौधे को भोजन मिलता है। शाखाओं का मुख्य कार्य अपने जीवन-स्रोत में जुड़े अथवा बने रहना ही है जिससे फल-फूल और शाखाओं सभी को भोजन-रस (जीवन-रस) मिलता है। इसी प्रकार जब विश्वासीजन अपनी "दाखलता" अर्थात् 'मसीह में अपनी स्थापित स्थिति' में बना रहता है, तब उसके जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में बहुतायत से (आत्मा के) फल लगेंगे (यूह0 15:1-5)।

किसी विश्वासी द्वारा 'मसीह में स्थापन-स्थिति' में बने रहने का एक सुन्दर उदाहरण संत पौलुस का जीवन था। इसीलिए फिलिप्पियों की पत्री में अपने फाँसी पर चढ़ाए जाने से पूर्व उसने मसीही जीवन-आनन्द की बात लिखी है। उसके उन शब्दों से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन्हें फाँसी पर चढ़ाए जाने वाले किसी मसीही ने लिखा है। कब्र से जिन्दा होने पर लाज़र का "मुँह कपड़ों से लिपटा हुआ था"। तब प्रभु यीशु ने कहा कि इसके "बन्धन खोल दो"। हमें भी कब्र के कपड़े उतारने हैं। स्व-कर्म-प्रयास द्वारा खुदा

को खुश करने के बन्धन से मुक्त होने के लिए 'मसीह में' अपने आत्मिक आशिष-अधिकार को पहचान कर आगे बढ़ने की जरूरत है (फिलि0 1:12-18; 3:1-3; 4:4-7; 4:11-13; यूह0 8:32; यूह0 11:43-44)।

शारीरिक और आत्मिक जन

शारीरिक मसीही वह है जो शारीरिकता अर्थात् पुराने आदम स्वभाव के चलाए चलता है। इस पाठ में शारीरिक मसीही के अलावा आत्मिक व्यक्ति के बारे में विचार किया जाएगा, अर्थात् शारीरिक मसीही और आत्मिक जन दोनों के चिन्ह, लक्षण एवं विशेषताओं के बारे में जानने का प्रयास करेंगे। इतना ही नहीं, बल्कि शारीरिकता से आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के बारे में भी विचार करेंगे। पहला कुरिथियों की पुस्तक के तीसरे अध्याय के प्रारम्भिक पदों में दो तरह के विश्वासियों का उल्लेख है। हम किस प्रकार के विश्वासी हैं? शारीरिक (अहं-केन्द्रित) मसीही या आत्मिक (परमेश्वर-केन्द्रित)। यह जानने-समझने के लिए हमें इन दोनों की पहचान पर ध्यान देना होगा (प0कुरि0 3:1-3)।

शारीरिक मसीही के लक्षण : आइए, सबसे पहले शारीरिक मसीही की पहचान या लक्षणों पर ध्यान दें :- **प्रथम :** उसके आन्तरिक एवं बाह्य जीवन में निरन्तर संघर्ष (अर्थात् दो परस्पर विरोधी स्वभावों का टकराव) पाया जाता है (रोमि0 7:22-23; गला0 5:17; गला0 5:22-23; गला0 5:19-20; प0कुरि0 3:3-4; ती0यूह0 9,10)। **दूसरा :** वह बारम्बार आत्मिक पराजय या असफलता का शिकार होता है (मर0 14:26-38, 50; रोमि0 7)। **तीसरा :** उसमें दीर्घकालीन बचपना होता है (प0कुरि0 3:1-2; इब्रा0 5:12-14)। **चौथा :** उसमें निष्फलता पायी जाती है (यूह0 15:1,2,16; यूह0 15:5-6; मर0 11:12-14 व 20-21)। **पाँचवाँ :** दुचित्तापन या पाखण्डपन पाया जाता है (याकूब 1:6-8; सभो0 24:21; मत्ती 23:1-

28; प0राजा 13:1-24)। **छठवाँ** : विद्रोहपूर्ण घमण्ड या ढिठाई पायी जाती है (निर्ग0 8:4-10; लूका 4:33-35; मर0 9:25-26)। शारीरिक मसीही के लक्षणों का विस्तृत उल्लेख इस पुस्तक के अट्टारहवें अध्याय में है। श्री जे0सी0 मेटकॉफ के अनुसार : “अपने अनुग्रह पथ पर प्रगति कराने से पहले प्रभु परमेश्वर हमें हमारे निरे पापीपन एवं आवश्यकताग्रस्तता का दर्शन कराता है। ईश्वरीय ज्ञान-प्रकाश से पूर्व हमारे अहं का पर्दाफाश होता है”।

आत्मिक जन के लक्षण : आइए, अब आध्यात्मिक व्यक्ति की पहचान व लक्षणों पर विचार करें। यहां आत्मिक मसीही का अर्थ पवित्र आत्मा द्वारा नियंत्रित जीवन व्यतीत करने वाले विश्वासी से है अर्थात् आत्मा के चलाए चलने वाला। यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जैसे अपने उद्धार के लिए हमने और कुछ नहीं किया बल्कि **विश्वास** किया, उसी प्रकार **आत्मा** के चलाए चलना भी विश्वास से होता है। अर्थात् आत्मा के चलाए चलने का मतलब या आत्मा द्वारा नियंत्रित होने का मतलब विश्वास के सहारे जीवन बिताना या विश्वास के आधार पर जीना है। इस संदर्भ में कुलुस्सियों 2:6 एवं गलातियों 2:20 को नहीं भूलना चाहिए। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक मसीही का जीवन (पवित्र) आत्मा के फलों वाला जीवन होता है (गला0 5:22-23)। अतः आत्मिक जन के इन लक्षणों पर भी ध्यान दें :-

(1) **शांतिपूर्ण जीवन** : शारीरिक मसीही के जीवन की एक पहचान उसके जीवन में पाया जाने वाला निरन्तर आन्तरिक संघर्ष है, लेकिन इसके विपरीत आत्मिक मसीही का जीवन शांतिपूर्ण होता है। हमारे कहने का अर्थ यह नहीं है कि आत्मिक जन के जीवन में दुख, दर्द या समस्याएं नहीं होतीं, बल्कि हमारा तात्पर्य यह

है कि दुःख-दर्द व परीक्षाओं के मध्य आत्मिक जन के आन्तरिक जीवन में इस ज्ञान एवं विश्वास-विश्राम में शांति पायी जाती है कि वह "मसीह में" विजयी है। इसके अतिरिक्त, चूंकि आत्मिक मसीही पाप की गुलामी में नहीं जीता इसलिए वह आत्म-दोष एवं दोषी विवेक से मुक्त होकर प्रभु में शांति, आनन्द एवं विश्राम पाता है (फिलि० 4:6-7; यूह० 14:27; दू०कुरि० 4:7-9; रोमि० 8:28; प्रेरित० 16:22-25; रोमि० 6:14; रोमि० 8:1,6; यशा० 26:3)।

(2) **विजयी जीवन** : आत्मिक मसीही के जीवन में 'आत्मिक विजय की आदत' पायी जाती है, जबकि शारीरिक मसीही बारम्बार आत्मिक पराजय का शिकार होता है। यहाँ मसीही जीवन में **विजय** के सही अर्थ को ध्यान में रखना आवश्यक है। अर्थात् मसीही (आत्मिक) विजय कोई बाहरी नियंत्रण नहीं है (जैसे अपने क्रोध या अधैर्य पर नियंत्रण पाना - यह मसीही या आध्यात्मिक विजय नहीं है)। अपनी आन्तरिक बुराई को छिपाना सच्ची आत्मिक (मसीही) विजय नहीं है। मुझे एक छोटे बच्चे की कहानी याद आती है जो अपनी कक्षा में खड़ा था। उसके क्लास टीचर ने बारम्बार उसे बैठ जाने का आदेश दिया लेकिन वह नहीं माना। अन्ततः टीचर ने उसके पास जाकर कहा, या तो तुम अभी बैठ जाओ, वरना मैं तुम्हें प्रिंसिपल साहब के पास ले जाऊँगा। तब वह लड़का बैठ गया लेकिन टीचर से बोला, 'मैं बाहर से तो आपको बैठा हुआ दिखाई दे रहा हूँ, मगर अन्दर से खड़ा हूँ'। आत्मिक मसीही 'विजयी आदत' में जीता है, क्योंकि "जीवन की आत्मा की व्यवस्था ने मसीह यीशु में मुझे पाप की और मृत्यु की व्यवस्था से स्वतंत्र कर दिया है"। आत्मिक जन एक उच्चतर सामर्थ्य द्वारा पाप की गुलामी से स्वतंत्र कर दिया गया है, जबकि शारीरिक जन पाप की

अधीनता में जीवन बिताता है (प0कुरि0 15:57; रोमि0 8:37; दू0कुरि0 2:14; प0यूह0 3:9; रोमि0 6:14; रोमि0 8:2)।

(3) **ख्रीष्ट-स्वभाव की समानता में विकासशील जीवन** : इस पुस्तक के एक अन्य अध्याय में हमने यह विचार किया था कि हमारे जीवन के लिए परमेश्वर का अंतिम लक्ष्य हमें मसीह के स्वरूप में ढालना है। मसीह का स्वरूप क्या है? मृत्यु अर्थात् हमारे अहं की मृत्यु, या यूँ कहें कि अहं-केन्द्रित जीवन की मृत्यु वाला स्वरूप। हमारे अहं-केन्द्रित जीवन के मरने के कारण को दूसरा कुरिन्थियों के चौथे अध्याय के दसवें एवं ग्यारहवें पद में बताया गया है। परमेश्वर के ज्ञान एवं उस पर विश्वास में विकास के साथ-साथ हम मसीह के स्वभाव की समानता में भी ढलते जाते हैं। प्रकृति का यह नियम है कि हम जिस पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं, उसी के स्वरूप में बढ़ते हैं। आत्मिक जन ख्रीष्ट-केन्द्रित जीवन-शैली का व्यक्ति होता है (फिलि0 2:5-8; फिलि0 3:10; लूका 9:23; यूह0 12:24; प0कुरि0 15:36; दू0कुरि0 7:3; दू0कुरि0 4:10-11; दू0कुरि0 3:18; दू0पत0 1:3-4)।

(4) **अलौकिक सामर्थ्य का जीवन** : प्रभु यीशु के अधिकतर प्रेरित साधारण या अनपढ़ लोग थे। उनमें एक पतरस भी था। सम्भवतः वह आज की किसी सेमिनरी या बाइबल स्कूल में बड़ी मुश्किल से दाखिला पाता, और शायद इनके वातावरण में फिट नहीं होता। एक दिन ऐसा आया कि उसने अपने उपदेश के द्वारा इतनी आत्माएं जीतीं जितनी कि प्रभु यीशु ने अपनी तीन साल की सार्वजनिक सेवकाई में नहीं जीतीं। पतरस को ऐसी सामर्थ्य कहाँ से मिली? क्या यह सामर्थ्य हमारे लिए भी उपलब्ध है? यहां दिए गये पवित्रशास्त्र के पद इसका उत्तर पाने के लिए

सहायक सिद्ध होंगे (यूह0 14:12; प्रेरित0 2:38-41; प्रेरित0 1:8; इफि0 3:20; प्रेरित0 4:13)।

- (5) **अलगाव का जीवन** : हमारे प्रभु यीशु का जीवन अलगाव का जीवन रहा - संसार में रहते हुए भी संसारिकता-विहीन। हाँ, संसार के साथ निकट का सम्पर्क रहा, किन्तु संसार के सदृश नहीं बना। संसार के साथ आध्यात्मिक मसीही का सम्बन्ध-सम्पर्क भी इसी प्रकार का होता है। संसार भी आत्मिक मसीही के प्रति वही रवैया रखेगा जैसा कि उसने मसीह के प्रति रखा (इब्रा0 7:26; लूका 2:37-38; यूह0 8:1-2; यूह0 17:16; यूह0 15:19-20; गला0 6:14)।
- (6) **पवित्रता का जीवन** : आध्यात्मिक विश्वासी का जीवन पवित्रता में विकासशील जीवन होता है। एलिय्याह का जीवन आत्मिक जन का एक उदहरण है (प0पत0 1:15-16; प0थिस्स0 4:7 व 5:24; रोमि0 6:22; इब्रा0 12:10; प0राजा 18:17-40)।

लहू का महत्व

हमने पिछले पाठ में शारीरिक मसीही और आत्मिक विश्वासी के बारे में संक्षिप्त अध्ययन किया। यहाँ हम संक्षेप में शारीरिकता से आत्मिकता की ओर बढ़ने के बारे में विचार करेंगे। यह परिवर्तन या विकास कैसे सम्भव है? इसके जवाब के लिए हम रोमियों की पत्री की कुछ खास बातों पर ध्यान लगाएंगे। इस पत्री के पन्द्रहवें अध्याय के तेरहवें पद में विश्वास करने वाले आध्यात्मिक जन की तस्वीर इन शब्दों में दर्शायी गयी है : “सब प्रकार के आनन्द और शांति से परिपूर्ण” और “पवित्र आत्मा की सामर्थ्य से ... आशा में बढ़ता” हुआ जन। ऐसी दिशा में विकास करने के लिए हमें कहाँ से शुरुआत करनी है? बेहतर है कि जैसे रोम के विश्वासियों को सुसमाचार में सुस्थापित करने के लिए पौलुस ने अपना पत्र लिखते समय बुनियादी बातों से समझाना शुरू किया, उसी प्रकार हम भी करें (रोमि0 2:16; रोमि0 16:25; दू0तीमु0 2:8)। मान लीजिए कि कोई अपने जीवन से निराश व असंतुष्ट मसीही (विश्वासी) आपके पास परामर्श लेने आता है और आप उसे यह समझाते हैं कि रोमियों0 15:13 के अनुसार ख्रीष्ट में “शांति, आनन्द एवं आशा” का जीवन उपलब्ध है। तब वह ऐसे जीवन में आगे बढ़ने की इच्छा एवं आकांक्षा व्यक्त करता है। इसके बाद आप उसे सुसमाचार के ज्ञान-समझ में आगे बढ़ाने के लिए क्या करेंगे? सुसमाचार की सच्चाईयों को जानने, मानने एवं अपनाने के लिए प्रोत्साहित करेंगे, जैसा कि पौलुस ने रोमियों की पत्री के पहले पाँच अध्यायों में रोम के मसीहियों के लिए किया - सुसमाचार की बुनियादी सच्चाईयों को

समझाया। उद्धार की दिशा में पहला कदम अपने पापीपन को पहचानना है, और इसीलिए पौलुस ने इस सच्चाई को अपनी पत्री के पहले तीन अध्यायों में भली भाँति स्पष्ट किया है। इसके अलावा उसने यह भी स्पष्ट किया है कि उद्धार केवल परमेश्वर के अनुग्रह से मसीह यीशु के द्वारा है।

इस संदर्भ में प्रत्येक विकासशील मसीही के लिए ख्रीष्ट के लहू के महत्व की सही समझ बहुत जरूरी है। क्योंकि अनेक विश्वासी दोषी भावना से संघर्षरत हैं। इसका एक खास कारण ख्रीष्ट के लहू के महत्व की अज्ञानता है। **लहू हमारे पापों को धोता है; क्रूस हमें पापों की अधिकार-शक्ति से मुक्त करता है** : रोमियों की पत्री के पहले आठ अध्यायों को दो प्रमुख खंडों में विभाजित किया जा सकता है - पहला खंड 1:1 से 5:11 तक और दूसरा खण्ड 5:12 से 8:31 तक। इन दोनों खण्डों का विषय एक समान नहीं है। दोनों में अन्तर पाया जाता है। उदाहरण के लिए पहले खंड में 'पाप' शब्द बहुवचन के अर्थ में प्रयोग किया गया है (3:35; 4:7), जबकि दूसरे खंड में एकवचन के अर्थ में (5:12-13, 20-21; 6:1-2,6)। पहले खंड में हमारे द्वारा किए गए पापों की बात है जबकि दूसरे खण्ड में 'पाप' की बात हमारे जीवन में काम करने वाली सत्ता, शक्ति या व्यवस्था के रूप में की गयी है (7:18,20)। इसमें कोई शक नहीं कि हमें अपने पापों की क्षमा चाहिए, लेकिन इसके साथ ही साथ हमें पाप के अधिकार-सत्ता से छुटकारे की बहुत जरूरत है। पहले खण्ड में ख्रीष्ट के लहू का दो बार उल्लेख किया गया है (3:25; 5:9), लेकिन दूसरे खण्ड में एक नये विचार को प्रस्तुत किया गया है - क्रूस, जिस पर मसीह के साथ हमारे सह-क्रूसित होने की बात कही गयी है (6:6)। इस सम्बन्ध में और अधिक चिन्तन करने से यह ज्ञात होगा कि **लहू** हमारे द्वारा किए

गये कामों (पापों) का समाधान है; जबकि क्रूस हम जो कुछ हैं (स्वभाव से पापी) इसका समाधान करता है।

लहू प्रमुखतः प्रभु परमेश्वर के लिए है। जब पाप होता है तो मृत्यु (अलगाव) होती है। परन्तु इस मृत्यु (अलगाव) के लिए परमेश्वर ने एक उपचार प्रदान किया है - लहू। यह लहू प्रायश्चित (भुगतान, संतुष्टि अथवा मेल-मिलाप) के लिए है। हमने जो पाप किए हैं उनकी हमें क्षमा चाहिए, और उन्हें क्षमा कर दिया गया है। ऐसा नहीं है कि परमेश्वर हमारे पापों को नहीं देखता है, बल्कि वह "लहू" देखता है। इसलिए "लहू" प्रमुखतः परमेश्वर के लिए है। यदि हमें लहू की कीमत को समझना है, तो इसके महत्व को ईश्वरीय दृष्टिकोण से देखना होगा। पुराना नियम में एक सौ से अधिक बार लहू का प्रायश्चित के मायने में प्रयोग हुआ है (रोमि0 6:23; यशा0 59:1-2; लैव्य0 17:11; प0यूह0 1:7; इब्रा0 9:22)।

पुराना नियम काल में प्रायश्चित दिवस का बहुत महत्व था, क्योंकि इस दिन का लोगों के पापों पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। उस दिन मिलाप तम्बू में महायाजक के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जा सकता था। केवल वही "लहू" लेकर परमेश्वर की प्रजा के पापों के लिए प्रायश्चित करता था। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि महापुरोहित मसीह का प्रतीक होता था (इब्रा0 9:11-12)।

इस प्रकार "लहू" से प्रभु परमेश्वर संतुष्ट है क्योंकि यह उसकी धार्मिकता व न्याय की माँग को पूरा (संतुष्ट) करने के लिए है। उसी का यह वचन है कि 'जहां वह लहू देखेगा वहाँ छुटकारा प्रदान करेगा'। इसलिए ख्रीस्त का लहू पिता परमेश्वर को पूर्ण रूपेण संतुष्ट करता है (इब्रा0 12:23)।

लहू से हमें भी संतुष्ट होना है। जब हम पाप करते हैं तो हमारा मन दोषी हो जाता है, किन्तु लहू हमारे विवेक को शुद्ध करता (धोता) है। हम चाहे जितना भी जघन्य पाप किए हों, ख्रीष्ट का लहू प्रभु परमेश्वर के न्याय व धार्मिकता की मांग को पूर्णतः संतुष्ट करता है (इब्रा0 10:22)। पाप का अंगीकार (confession) हमारे पाप-दोष को दूर नहीं करता। मान लीजिए आपने कोई पाप कर दिया और दोषी मन से परेशान हैं। आप पाप-अंगीकार करते हैं, किन्तु फिर भी दोष-भावना से ग्रसित हैं। क्यों? क्योंकि जिस लहू से परमेश्वर ने संतुष्ट होकर हमारे पापों को क्षमा कर दिया है, उस लहू के कार्य-प्रभाव पर हम विश्वास या भरोसा नहीं कर रहे हैं और प्रभु से प्राप्त क्षमा पर विश्वास करके स्वयं को क्षमा नहीं करते। इसीलिए बहुत से विश्वासी पहला यूहन्ना 1:9 में ही जीते हैं - पाप-अंगीकार, परमेश्वर से क्षमा, किन्तु दोष-भावना में, इसीलिए फिर यही प्रक्रिया दोहराते रहते हैं। परन्तु यूहन्ना 8:32 में लिखा है : "सत्य को जानोगे, और सत्य तुम्हें स्वतंत्र करेगा"। सत्य यह है कि ख्रीष्ट के लहू से परमेश्वर पूरी तरह से संतुष्ट है, और इस सच्चाई पर विश्वास-विश्राम करने पर पवित्र आत्मा हमें (पाप-अंगीकार के बन्धन से) स्वतंत्र करेगा। दोषी मन हमारे विश्वास को दुर्बल बनाता है। किन्तु विश्वास से जीवन बिताने पर हमारा विवेक शुद्ध रहता है। पौलुस ने तीमुथियुस को विश्वास एवं शुद्ध विवेक रूपी हथियार के साथ सेवा में लगे रहने का प्रोत्साहन दिया (प0तीमु0 1:17-19)। विश्वास एवं शुद्ध विवेक एक दूसरे पर आश्रित हैं। जब हमारा विवेक दोषी होता है तो हमारा विश्वास दुर्बल होने लगता है। परन्तु विश्वासपूर्ण आचरण उत्तम विवेक विकसित करता है। अतः प्रभु की संगति में बढ़ने के लिए शुद्ध विवेक आवश्यक है। इसके लिए ख्रीष्ट के लहू के महत्व को पहचानना जरूरी है। परमेश्वर तक हमारी पहुंच का एकमात्र

आधार ख्रीप्त का लहू ही है। ख्रीप्त के लहू को परमेश्वर द्वारा ग्रहण करना ही वह आधार है जिसके माध्यम से हम परमेश्वर के समक्ष ग्रहणयोग्य हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है (इब्रा0 10:19)।

धूसर वरु महेतु

बहुत से मसीही यह सोचते हैं कि विश्वासी होने के बाद आत्मिक मार्ग में कोई समस्याएं नहीं आएंगी, और आत्मिक जन होने की दिशा में वे बढ़ते रहेंगे। ऐसे लोगों को कुछ समय तक सब कुछ खुशी व शांति ही लगता है और उन्हें कोई काले बादल नहीं दिखते। लेकिन आगे जाकर उनका भ्रम टूटने लगता है। शीघ्र ही यह मालूम होने लगता है कि विश्वासीजन की इहलौकिक जिन्दगी मुश्किलों से मुक्त नहीं है। परन्तु सुखद बात यह है कि प्रभु परमेश्वर ने इनका समाधान प्रदान कर दिया है। आत्मिक मार्ग में विश्वासी के समक्ष आने वाली एक समस्या के बारे में हमने पिछले पाठ में विचार किया - दोषी मन, और इसके लिये परमेश्वर-प्रदत्त उपचार को भी जाना (दू0पत0 1:3; इब्रा0 10:19,22)।

अब इस पाठ में हम एक अन्य समस्या पर विचार करेंगे, जो कि दोष-भावना से बड़ी है। आत्मिक मार्ग पर चलना शुरू करने के बाद हमें यह ज्ञात होने लगता है कि हमारे भीतर बुराई पायी जाती है; और यह बुराई तब भी पायी जाती है जब कि भलाई करने की तीव्र इच्छा होती है। हाँ, पवित्रता और धार्मिकता में हम बढ़ना चाहते हैं; किन्तु अक्सर हम स्वयं को पाप के कीचड़ की ओर जाते या उसमें फंसता हुआ पाते हैं। इससे स्वयं को छुड़ाने के लिए हम और अधिक वचन-मनन, और अधिक प्रार्थना-उपवास, और अधिक समर्पण या और अधिक चर्च व सुसमाचार सेवा करने का सहारा लेते हैं, लेकिन असफलता ही हाथ लगती है। आत्मिक विश्वासी होने की दिशा में रुकावट पैदा करने वाली यह बुराई हमारे भीतर सक्रिय

रहती है। हमारे ऊपर जोर-जबरदस्ती दिखाने वाली इस बुरी शक्ति की सतावट के आगे शांति व आनन्द की बात असम्भव लगती है। इस भारी समस्या के लिए पौलुस ने रोमियों की पत्री के पाँचवें अध्याय के बारहवें पद से लेकर आठवें अध्याय तक समाधान प्रस्तुत किया है। स्मरण रहे कि यह समस्या हमारे द्वारा किए गये पापों की समस्या नहीं है, बल्कि यह तो हमारे जीवन में कार्यरत पाप-स्वभाव (पाप की शक्ति) की समस्या है (रोमि0 7:15-24; रोमि0 5:12 से 8 अध्याय तक)।

रोमियों के पाँचवें अध्याय के पहले पद में पौलुस ने “परमेश्वर के साथ मेल (शान्ति)” की बात कही है और यह मेल-मिलाप उद्धार-प्राप्ति के समय होता है। परन्तु फिलिप्पियों 4:7 में पौलुस एक बिल्कुल भिन्न बात कहता है - “परमेश्वर की शांति”। कहने का मतलब यह है कि उद्धार पाने के कुछ ही समय बाद हमें यह ज्ञात होता है कि “परमेश्वर के साथ शांति (मेल)” को पाना एक बात है, परन्तु “परमेश्वर की शांति” पाना दूसरी बात है। अतः हमारे भीतर एक संघर्ष होता है। अर्थात् हमारे अन्दर के पुराना आदम स्वभाव, शारीरिकता, अहं अर्थात् बुराई करने की आन्तरिक आकांक्षा के कारण ऐसा होता है जिसे हम अपने प्राकृतिक जन्म से पाए हुये हैं, और जो हमें अपनी दासता में रखना चाहता है। इस शारीरिकता रूपी आन्तरिक बुराई से छुटकारे का ईश्वरीय मार्ग मनुष्य का उपाय नहीं है। मनुष्य के उपाय की तरह, ईश्वरीय उपाय अहं-केन्द्रित अभिलाषाओं को दबाने, नियंत्रित करने, पाप-अंगीकार करने या सिर्फ स्वयं को बलवान बनाने का रास्ता नहीं दिखाता। पाप की शक्ति व अधिकार की अधीनता से छुटकारा पाने का परमेश्वर का उपाय क्रूस (मृत्यु) है, यानि केवल मृत्यु (क्रूस पर

चढ़ाना) ही इसका इलाज है (रोमि0 5:1; फिलि0 4:7; गला0 5:17; रोमि0 7:23; रोमि0 6:6)।

स्मरण रहे कि क्रूस पर दो महाकार्य सम्पन्न हुए - (1) हम पाप के दण्ड से मुक्त किए गये, मसीह हमारे बदले मरा, (2) इसके अलावा हम पाप के अधिकार-शक्ति की अधीनता से मुक्त किए गये, हमारा पुराना मनुष्यत्व (पाप-स्वभाव) मसीह के साथ क्रूस पर चढ़ाया गया। अब सवाल यह है कि यदि हमारा पुराना मनुष्यत्व या पाप-स्वभाव क्रूस पर चढ़ा दिया गया है तो अब मैं क्योंकर पाप की चाकरी करता हूँ? इस बात को कुछ इस तरह से समझने की कोशिश करें। क्यों बहुत से विश्वासी "नये जीवन की चाल" चलने में असफल रहते हैं, और बियाबान की जिन्दगी (शारीरकता का जीवन) जीते हैं? हाँ उद्धार पाए हैं, उनमें पवित्र आत्मा है, लेकिन इन सबके बावजूद अपने आप को पराजित पुराने मनुष्य की गुलामी में रखते हैं जिसे प्रभु यीशु अपने साथ क्रूस पर व कब्र में ले गया (रोमि0 6:2-14)। ऐसा इसलिए है कि हम उन इस्राएलियों के समान हैं जो चालीस साल तक मरुभूमि का चक्कर इसलिए काटते रहे क्योंकि वे लोग लाल समुद्र में गाड़ दिए गये पराजित मिस्री शत्रु के नियंत्रण एवं भय में जीते रहे। इस्राएलियों के अविश्वास ने उन्हें उस भरपूर जीवन से वंचित रखा जिसे प्रभु परमेश्वर ने उनके लिए कनान में तैयार किया था। यही हालत उस मसीही विश्वासी की भी होती है जो 'जीवन एवं ईश्वर-भक्ति' के लिए मसीह यीशु में परमेश्वर-प्रदत्त समस्त आध्यात्मिक आशिषों के बावजूद लक्ष्यहीन जीवन-दिशा में जीता है, क्योंकि वह अज्ञानता एवं अविश्वास के कारण विश्वास के द्वारा परमेश्वर-प्रदत्त आशिषों को नहीं अपनाता। अपनी प्रजा इस्राएल को यह सीख देने में प्रभु परमेश्वर को चालीस वर्ष लगे कि प्रतिज्ञात

देश में प्रवेश हेतु वही विश्वास जरूरी है जो मिस्र से प्रस्थान के लिए जरूरी था (कुलु0 2:6)।

परमेश्वर हमें पाप पर विजय देने हेतु और सशक्त नहीं बल्कि अशक्त करता है। परमेश्वर का तरीका मनुष्य के तरीके से भिन्न है। बहुत से मसीही बलवान बनने की दुआ करते हैं कि अपने बुरे स्वभाव पर नियंत्रण रख सकें। यह मनुष्य का तरीका है। परमेश्वर पहले हमारी दुर्बलता को बेपर्द करता है, यानि हमें दुर्बल करता है। पाप की दासता से स्वतंत्र करने के लिए प्रभु परमेश्वर उसे क्रूसित करता है। इस संदर्भ में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मसीह के साथ हमारा पुराना आदम स्वभाव सह-क्रूसित हो चुका है, और हमें इसे जानना, मानना एवं अपनाना है (दू0कुरि0 12:9-10; यशा0 40:29)।

यहां दिए गये रोमियों के छठवें अध्याय के पदों में ध्यानपूर्वक देखिए कि मसीह की मृत्यु के साथ हमारी सहभागिता, पहचान या एकत्व की बात बारम्बार आयी है। पौलुस की पत्रियों से सुस्पष्ट है कि उसने मसीह के साथ सह-क्रूसित होने की बाइबेलीय सच्चाई को अपने जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया। इस संदर्भ में रोमियों के सातवें अध्याय के बारे में भी एक-दो बातों पर ध्यान दें। बहुत से मसीही सातवें अध्याय को अनावश्यक मानते हैं। कुछ लोग तो यह कहते हैं कि रोमियों की पत्री का सातवाँ अध्याय गलत स्थान पर रखा गया है; क्योंकि ऐसे लोग इस अध्याय की बातों को पाँचवें और छठवें अध्यायों के बीच में रख कर, छठवें अध्याय के बाद मसीही जीवन में सब कुछ ठीक-ठाक ही दर्शाना चाहते हैं। ऐसे लोग छठवें अध्याय की बातों के बाद सातवें अध्याय में वर्णित संघर्ष को सहना-समझना बहुत कठिन मानते हैं। अन्य कुछ लोग सातवें

अध्याय से कतराने के लिए इसकी किसी और तरीके से व्याख्या देते हैं। ऐसे लोगों का कहना है कि सातवें अध्याय में पौलुस अपने मसीही होने से पहले के जीवन की बात कर रहा है, जब वह व्यवस्था पर चलने की कोशिश में था। ऐसे लोग इस अध्याय की सब बातों को मसीही अनुभव का अंग नहीं मानते। परन्तु सच्चाई यह है कि अनेक विश्वासी 7:15-24 की बातों का अपने जीवन में अनुभव करते हैं। सातवें अध्याय को समझने के प्रसंग में सबसे सामान्य भूल यह की जाती है कि छठवें और सातवें अध्यायों की विषय-वस्तु में भिन्नता की अनदेखी कर दी जाती है : छठवें अध्याय में “पाप से स्वतंत्रता” की बात कही गयी है, किन्तु सातवें अध्याय में “व्यवस्था की अधीनता से स्वतंत्रता” रूपी भिन्न विषय है (रोमि0 6:1-13; कुलु0 2:20; कुलु0 3:1-3; गला0 2:20; रोमि0 7:1-24)।

वास्तव में रोमियों का सातवाँ अध्याय उस विश्वासी की आन्तरिक व्यथा का वर्णन करता है जो शारीरिकता के चलाए स्वार्थ-केन्द्रित जीवन जी रहा है। सातवें अध्याय के सातवें पद से उस अध्याय के अंत तक “मैं” जैसे व्यक्तिवाचक सर्वनाम लगभग सैंतालीस बार आए हैं, जिनसे ऐसे अहं-केन्द्रित एवं आत्मिक पराजय में जीने वाले मसीही की तस्वीर प्रकट होती है, जो अन्ततः रोमियों 7:15-24 में वर्णित अनुभव में जाएगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि रोमियों के छठवें अध्याय में मसीह के साथ हमारी मृत्यु, पुराने मनुष्यत्व सम्बन्धी हमारी सारी पाप-स्वभाव की समस्याओं का जवाब है। लेकिन समस्या यह है कि अधिकतर लोग रोमियों 6:14 के दूसरे हिस्से को ठीक से नहीं समझते - “तुम व्यवस्था के अधीन नहीं, वरन् अनुग्रह के अधीन हो”। अतः ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि रोमियों 6:14 की सच्चाई को समझने के लिए ही पौलुस ने उन बातों को लिखा जो सातवें अध्याय में पायी जाती हैं। **अनुग्रह क्या है?**

मनुष्य के लिए परमेश्वर द्वारा किया गया काम। **व्यवस्था** क्या है? परमेश्वर को खुश करने के लिए मनुष्य द्वारा किए जाने वाले कर्म। पौलुस क्या कहता है? हम “व्यवस्था के अधीन नहीं हैं”। अर्थात् हमें परमेश्वर को खुश करने के लिए कर्म-प्रयास में नहीं लगना है, क्योंकि हम “अनुग्रह के अधीन” हैं। अर्थात् हमें प्रभु परमेश्वर की सामर्थ्य या सत्ता-अधिकार के आधार पर जीना है, अपने बल पर नहीं। जब हम अपने कर्म-प्रयास से परमेश्वर को खुश या संतुष्ट करने लगते हैं तो स्वयं को व्यवस्था के अधीन करते हैं और रोमियों 7:15-24 की बातों के अनुभव में जीते हैं।

अपने आपको तो हम ठीक दिखते हैं, लेकिन जब हमें कोई आदेश-पालन करने की आज्ञा दी जाती है, तब हमारा पापीपन बेपर्दा होने लगता है। आज्ञाओं में कोई खराबी नहीं है, बल्कि हम ठीक नहीं हैं। हमारा शरीर यानि शारीरकता, पाप-स्वभाव या बुराई करने की प्रबल आंतरिक आकांक्षा के सामने जब कोई आदेश आता है तो हमारा यह पाप-स्वभाव उस आदेश का उल्लंघन करना चाहता है। कहने का मतलब यह है कि जब किसी पापी मनुष्य पर पवित्र व्यवस्था लागू की जाती है तो उसका पापीपन प्रदर्शित होने लगता है (रोमि0 7:5)। व्यवस्था का तो यही उद्देश्य है। यदि व्यवस्था न होती तो हम अपने घिनौने पापीपन को नहीं पहचानते (रोमि0 7:7)। रुचिकर तो यह है कि आप जितना ही अधिक व्यवस्था का पालन करना चाहेंगे, उतना ही ज्यादा (उसका उल्लंघन करके) असफलता का शिकार होंगे। यह सच्चाई रोमियों के गहन अध्ययन से बिल्कुल स्पष्ट है, और यह असफलता तब तक होती है जब तक कि हम अपनी असहाय व लाचार दशा को नहीं पहचानते (7:24)। हकीकत तो यह है कि व्यवस्था हमारे पालन हेतु नहीं बल्कि उल्लंघन के लिए दी गयी थी, जिससे कि हम अपने पापीपन को पहचान सकें

(5:20)। रोमियों के छठवें अध्याय के अनुसार प्रभु परमेश्वर ने हमें पाप से छुटकारा प्रदान किया है, और सातवें अध्याय के अनुसार उसने हमें व्यवस्था-बन्धन से छुटकारा दिया है। छठवें अध्याय के शुरू के छः पद यह सिखाते हैं कि हम (यानि हमारा पुराना आदम) मसीह के साथ क्रूस पर मर चुके हैं और पाप के प्रति मृतक समान हैं। जो सिद्धान्त पाप-स्वभाव से छुटकारे के लिए लागू होता है, वही सिद्धान्त व्यवस्था की अधीनता से छुटकारा पाने के लिए भी लागू होता है। यदि मैं अपने आप पर भरोसे का मसीही जीवन बिता रहा हूँ तो यह व्यवस्था के तकाजे को पूरा करना होगा, लेकिन यदि "मैं, मेरा अहं या पुराना स्वभाव" मर चुका है तो मेरे ऊपर से व्यवस्था का तकाजा खत्म हो चुका है। इसीलिए पौलुस कहता है, "हम मसीह के साथ क्रूस पर चढ़ाये जा चुके हैं" (गला0 2:20), और "व्यवस्था के लिए मरे हुए" हैं (रोमि0 7:4)। रोमियों के सातवें अध्याय के चौथे पद का अंतिम खंड इस सब के उद्देश्य को स्पष्ट कर देता है, "ताकि हम परमेश्वर के लिए फल लाएं"।

आत्मा से परिपूर्ण

इसके पहले के दोनो पाठों में रोमियों की पत्री के छठवें एवं सातवें अध्याय के प्रमुख संदेश पर ध्यान देने के बाद, अब हम आठवें अध्याय पर विचार करेंगे। रोमियों की पत्री के आठवें अध्याय को "विजय का अध्याय" भी कहा गया है। आठवाँ अध्याय पवित्र आत्मा के कार्य के बारे में है। सातवें अध्याय के अन्त तक "पवित्र आत्मा" का उल्लेख केवल एक ही बार किया गया है (5:5), किन्तु इस आठवें अध्याय में (पवित्र) आत्मा का उन्नीस बार जिक्र किया गया है।

अफसोस की बात है कि पवित्र आत्मा के सेवकाई के बारे में मसीहियों के मध्य बहुत अधिक भ्रम है; इसका बहुत अधिक दुरुपयोग है, और पवित्र आत्मा की सच्ची सेवकाई (कार्य) का बहुत लोग इनकार भी करते हैं। पवित्र आत्मा के बारे में एक बात बिल्कुल साफ है कि पवित्र आत्मा कोई रहस्यमय शक्ति या व्यक्ति नहीं है (दू0कुरि0 13:14; यूह0 14:16; प0कुरि0 3:16, 6:19)। यदि आप से यह पूछा जाय कि क्या आप आत्मा से भरपूर हैं? या क्या आपका पवित्र आत्मा से बपतिस्मा हो चुका है, तो आप के मन में क्या विचार आएगा? आप क्या सोचेंगे? मान लीजिए, इसी बात को दूसरी तरह से पूछा जाय कि क्या आप आत्मा के चलाए चलते हैं? शायद यह प्रश्न कुछ लोगों को ज्यादा स्वीकार्य होगा। या इसे दूसरे शब्दों में यूँ पूछें कि क्या आप पवित्र आत्मा के नियंत्रण में रहते हैं? कुछ लोग इस प्रकार के प्रश्न को ज्यादा स्वीकार्य पाएंगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, रोमियों का आठवाँ अध्याय पवित्र आत्मा से

सम्बद्ध है। अर्थात् आत्मा से भरपूर जीवन के बारे में है जो कि मनुष्य के धर्मसंकट का ईश्वरीय जवाब है। आत्मा से भरपूर जीवन : मसीह में जीवन है, आत्मा द्वारा जीवन बिताना है - यह अनुग्रह द्वारा शासित-संचालित होता है और यह जीवन विश्वास के सहारे व्यतीत किया जाता है। विजयी मसीही जीवन का जवाब सिर्फ पवित्र आत्मा के पास है। इसमें हमारी योग्यता व प्रयास का महत्व नहीं है बल्कि यह तो परमेश्वर के आत्मा की पूर्णतः विश्वसनीयता पर आश्रित है।

इस पाठ में रोमियों आठ का गहन अध्ययन सम्भव नहीं है। किन्तु पवित्र आत्मा के कार्य, आत्मा से परिपूर्ण जीवन तथा आत्मा से भरपूर होने (इफि० ५:१८) के बारे में कुछ खास बातों को प्रस्तुत किया जाएगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य के लिए पवित्र आत्मा से भरपूर जीवन बिताने की ईश्वरीय योजना पूर्णरूपेण सिद्ध योजना है। लेकिन इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि ज्यादातर मसीही शारीरकता का जीवन जी रहे हैं। तो क्या इस दुनिया में जीने के लिए यह ईश्वरीय योजना एक व्यवहारिक योजना है? क्या ऐसी दुनिया में यह ईश्वरीय योजना संभव है? पवित्र वचन यह दर्शाता है कि यह योजना सम्भव नहीं बल्कि प्रत्येक विश्वासी के लिए व्यवहारिक भी है (यूह० १०:१०; दू०पत० १:३)।

यूहन्ना बपतिस्मा देने वाले ने अपनी दो बातों के द्वारा यीशु मसीह की सम्पूर्ण सेवकाई की घोषणा कर दी थी - "देखो, यह परमेश्वर का मेमना है जो जगत का पाप उठा ले जाता है" (यूह० १:२९), और "जिसने मुझे जल से बपतिस्मा देने को भेजा, उसी ने मुझसे कहा ... वही पवित्र आत्मा से बपतिस्मा देने वाला है" (यूह० १:३३)। "जगत का पाप उठा ले जाना" तथा "विश्वास करने वालों

को पवित्र आत्मा का दान देना” मसीह की सेवकाई थी। प्रभु यीशु ने यूहन्ना 7:38-39 में तीन खास बातें कहीं : (1) क्या दान देगा? पवित्र आत्मा (2) उस पर विश्वास करने वालों को (3) कब दिया? महिमा में पहुंचने पर। अपने क्रूस पर चढ़ाए जाने से पहले भी प्रभु यीशु ने इस विशिष्ट दान के बारे में प्रकाश डाला (यूह0 16:7)। अपनी स्वर्गिक महिमा में वापस जाने पर प्रभु यीशु ने पेन्तीकुस्त के दिन पवित्र आत्मा भेजकर अपने वायदे को पूरा किया और उसके चेले पवित्र आत्मा का बपतिस्मा पाए (प्रेरित0 2:1-4)। उस दिन से आज तक विश्वास के द्वारा प्रभु यीशु की एकता-सहभागिता में आने वाले प्रत्येक जन को पवित्र आत्मा का दान मिला है।

इस्राएल के इतिहास में चिन्ह और आश्चर्यकर्मों की बात कोई नयी बात नहीं थी; ऐसा प्राचीन काल से होता रहा है। पुराना नियम काल से ही यहूदी लोग चिन्हों एवं आश्चर्यकर्मों को परमेश्वर के सच्चे काम का प्रमाण मानते थे। पेन्तीकुस्त के दिन जो चिन्ह प्रकट हुआ वह यह था कि प्रभु के अशिक्षित चेलों के द्वारा परमेश्वर का संदेश उन दूसरी भाषाओं में सुनाया गया जिन्हें वे स्वयं नहीं जानते थे। किन्तु ध्यान दें कि बोली गयी भाषाएं उस जमाने में बोली जाने वाली ऐसी भाषाएं थीं जिन्हें चेले नहीं समझते थे, लेकिन दूसरे लोग उन भाषाओं को जानते थे। कहने का मतलब यह है कि वह उस जमाने की ज्ञात भाषाएं थीं, अज्ञात भाषाएं नहीं थीं। प्रेरितों के काम की पुस्तक में तीन ऐसे विवरण पाये जाते हैं जहां ऐसी भाषाएं बोलने का जिक्र है। प्रत्येक ऐसे विवरण में एक खास नए लोगों का समूह प्रभु पर विश्वास लाया, तभी ऐसा हुआ (अध्याय 2,10,19)। दूसरे अध्याय में यहूदी, प्रभु पर विश्वास लाए, दसवें अध्याय में गैर-यहूदी और उन्नीसवें अध्याय में 'पुराना नियम काल के संत

जन' अर्थात् यूहन्ना बपतिस्मा देने वाले के शिष्यगण। यदि पहली घटना के बाद प्रभु के पास गैर यहूदियों के आने पर उन्हें इसी प्रकार पवित्र आत्मा का दान नहीं मिला होता तो क्या होता? यहूदी विश्वासी लोग यह कहते कि इन गैर यहूदियों को (सच्चा) उद्धार नहीं मिला है। इसीलिए प्रेरितों के काम के 10:44-46 में वैसा ही हुआ, और इसीलिए गैर यहूदियों के सुसमाचार पर विश्वास के बारे में यरूशलेम के अगुवों को बताते हुए पतरस ने यह कहा, "पवित्र आत्मा उन पर उसी रीति से उतरा जिस रीति से आरम्भ में हम पर उतरा था" (11:15)।

जिस क्षण कोई व्यक्ति ख्रीष्ट को अपना उद्धारकर्ता मान कर विश्वास करता है, वह पवित्रआत्मा में होता है और पवित्र आत्मा उसमें होता है। पुत्र को स्वीकार करना और आत्मा को स्वीकार नहीं करना असम्भव है (रोमि0 8:9)। परमेश्वर की योजना में पवित्र आत्मा के दान का एक खास मकसद है जैसे कि पुत्र को देने का एक खास मकसद है। पुत्र द्वारा पापीजन को जीवन-दान मिला है, पवित्र आत्मा के द्वारा विश्वासी को बहुतायत का जीवन-दान। पुत्र के द्वारा पापीजन आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रवेश करता है, क्योंकि इससे पूर्व वह आध्यात्मिक तौर पर मृतक था। पवित्र आत्मा के द्वारा विश्वासी जन उच्चतम स्तर के (आध्यात्मिक) जीवन में विकसित किया जाता है। पवित्र आत्मा के प्रसंग में विश्वासी जन जिस उच्चतम बिन्दु तक विकसित किया जा सकता है उसे संत पौलुस ने इन शब्दों में व्यक्त किया है : "आत्मा से परिपूर्ण होते जाओ" (इफि0 5:18)। उद्धार के समय पवित्र आत्मा हमारे जीवन में वास करने आता है। लेकिन सिर्फ इतना ही पर्याप्त नहीं है। हाँ, जितना पवित्र आत्मा मिल सकता है उतना पवित्र आत्मा उद्धार के वक्त हमें मिलता है। लेकिन

इसके बाद सवाल यह है कि हम पवित्र आत्मा के लिए कितना उपलब्ध (कितना उसके प्रभाव, नियंत्रण एवं सहभागिता में) रहते हैं?

“पवित्र आत्मा से परिपूर्ण होते” रहना प्रत्येक विश्वासी का जन्मसिद्ध अधिकार है (रोमि0 8:17)। आत्मिक जन्म (उद्धार) के समय प्राप्त हमारी “मीरास का बयाना” हमें “आत्मा से परिपूर्ण होने” का अधिकार प्रदान करता है। यह कुछ खास मसीहियों का विशेषाधिकार नहीं है, बल्कि सभी विश्वासियों का परमेश्वर-प्रदत्त अधिकार है। लेकिन अनेक विश्वासी अपने इस अधिकार की अवहेलना करते हैं, जैसा कि एसाव ने किया। उसने तो थोड़ी सी “मसूर की दाल” के बदले अपना अधिकार बेंच दिया था, जबकि आजकल अनेक विश्वासी सुख-सुविधा, धन-सम्पत्ति या पद-पदवी के लिए ‘पवित्र आत्मा से परिपूर्ण होते रहने’ की सच्चाई की अनदेखी करते हैं। वास्तव में, “पवित्र आत्मा से परिपूर्ण होते” जाना प्रत्येक विश्वासी की आवश्यकता है। पवित्र आत्मा बगैर आत्मिक जीवन, आत्मिक विकास एवं आत्मिक परिपक्वता असम्भव है। पेन्तीकुस्त के दिन एक सौ बीस लोग पवित्र आत्मा से परिपूर्ण हुए जिनमें से सिर्फ ग्यारह जन प्रेरित थे। शेष लोग साधारण विश्वासी थे जिनके नाम भी लिपिबद्ध नहीं हैं। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि अपने-अपने स्थान पर वापस जाने के बाद पवित्र आत्मा की सामर्थ्य में वे भी परमेश्वर द्वारा महान सेवकाई में इस्तेमाल किए गये (प्रेरित0 1:8)।

प्रत्येक विश्वासी की यह मनोकामना होनी चाहिए कि “पवित्र आत्मा से परिपूर्ण होता” रहे। इफिसियों 5:18 में जहां पवित्र आत्मा से परिपूर्ण होने की बात लिखी है वहीं यह भी लिखा है कि “दाखरस पीकर मतवाले मत हो”। क्या हम यह निर्देश मानते हैं? हाँ,

अधिकांश विश्वासी मानते हैं। लेकिन जब “पवित्र आत्मा से परिपूर्ण होते जाओ” की आज्ञा पर ध्यान देते हैं तो? अधिकतर लोग इस आज्ञा की अनदेखी करते हैं? क्यों? क्या प्रभु के वचन का यह निर्देश कम महत्वपूर्ण है? मान लीजिए आपके पास्टर साहब आदतन “पीकर मतवाले” होने लगते हैं, तो क्या आपकी मण्डली इसको ज्यादा दिन तक सहन करेगी? हो सकता है कि सहन करे ... या न करे। परन्तु यहां खास बात यह है कि क्या इस पद की दोनों बातें समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं हैं? जैसे जानबूझ कर मसीह पर विश्वास नहीं करना किसी अविश्वासी का सबसे बड़ा पाप है, उसी प्रकार पवित्र आत्मा को मानने तथा उस पर भरोसा करने से इनकार करना विश्वासी के लिए पाप है। **पवित्र आत्मा से परिपूर्ण होने** का मतलब है, प्रभु यीशु मसीह से परिपूर्ण होना, जो कि विश्वासी जन का जीवन है। **पवित्र आत्मा से परिपूर्ण होने** का मतलब है, प्रभु के जीवन का हमारे इस नाशवान देह में प्रकटीकरण (कुलु0 3:4; फिलि0 1:21; दू0कुरि0 4:10-11)।

पवित्र आत्मा की प्रमुख सेवकाई मसीह की ओर हमारा मन लगाना है। पहले भी कहा जा चुका है कि पवित्र आत्मा तो प्रभु यीशु की ओर से एक दान है। इस प्रकार पवित्र आत्मा से प्राप्त होने वाली प्रत्येक आशीष (कार्य) जीवित प्रभु यीशु से है और उसी ओर हमें ले जाती है। पवित्र आत्मा यीशु से हम तक सिर्फ आता ही नहीं है, बल्कि उसी की ओर हमारे मन की अगुवाई करता है अर्थात् ले जाता है। हमारे और प्रभु यीशु के मध्य पवित्र आत्मा एकमात्र जीवित सम्पर्क है (यूह0 16:13-14; 15:16)। अतः सिर्फ पवित्र आत्मा को ही आदि एवं अन्त नहीं मानना है। कहने का मतलब यह है कि सिर्फ उसी पर **मन** नहीं लगाना है; क्योंकि पवित्र आत्मा का कार्य प्रत्येक

पात्र को प्रभु यीशु से भरपूर करना है। वह हमारी दृष्टि को प्रभु यीशु की ओर केन्द्रित करता है (प्रभु यीशु की ओर ताकते रहना) और इसी प्रकार हमारे जीवन को शनै-शनै यीशु के स्वरूप में बदलता जाता है (दू०कुरि० 3:18; प०कुरि० 1:30-31)।

विश्वासियों के लिए "पवित्र आत्मा से परिपूर्ण" होते रहने की बात एक आदेश के रूप में सिर्फ इफिसियों 5:18 में ही पायी जाती है। इसके अलावा यह शब्दावली लूका एवं प्रेरितों के काम की पुस्तकों में लगभग चौदह बार इस्तेमाल की गयी है, जहां इसका अर्थ संदर्भ के अनुसार इफिसियों 5:18 से भिन्न दिखायी देता है। लूका एवं प्रेरितों के काम की पुस्तकों में इस शब्दावली को या तो किसी व्यक्ति विशेष पर पवित्र आत्मा के आने, या फिर विशिष्ट सामर्थ्य देने (प्रेरित० 1:8), अथवा सामान्य आत्मिक जीवन को दर्शाने (प्रेरित० 6:3) के मायने में प्रयोग किया गया है। यह सब मूल भाषा के संदर्भ से स्पष्ट है। हिन्दी का अनुवाद, पवित्र "आत्मा से परिपूर्ण होते जाओ" मूल भाषा के करीब है, क्योंकि मूल भाषा में भी एक निरन्तर प्रक्रिया को दर्शाया गया है - विश्वासी द्वारा लगातार अपनाते जाने की बात - 'आत्मा से परिपूर्ण होने की बात'।

इफिसियों 5:18 के इस आदेश को इस पत्री के संदर्भ में समझना जरूरी है। इफिसियों की पत्री के पहले अध्याय में यह बताया गया है कि परमेश्वर की सारी योजना एवं कार्य का केन्द्र-बिन्दु प्रभु यीशु मसीह ही है। यह तथ्य कुलुस्सियों 1:18 से भी प्रमाणित है। इफिसियों के पहले अध्याय में यह भी बताया गया है कि कलीसिया 'मसीह की देह' है और उसमें उसकी सारी परिपूर्णता वास करती है। अतः कलीसिया में मसीह की परिपूर्णता वास करती है "जो सबमें सब कुछ पूर्ण करता है" (इफि० 1:22-23)। अब

इफिसियों 3:18-19 में पौलुस की प्रार्थना पर ध्यान दीजिए। वह प्रार्थना करता है कि विश्वासी लोग “मसीह के प्रेम” को पहचानें जिससे कि “परमेश्वर की सारी भरपूरी तक परिपूर्ण हो जाएं” (ईश्वर-परायणता, ख्रीष्ट के स्वभाव-स्वरूप में विकास)। इसके अतिरिक्त इफिसियों 4:10 में प्रभु यीशु के देह धारण का उद्देश्य “सब कुछ परिपूर्ण” करना बताया गया है। इसके साथ ही साथ 4:11-13 में स्थानीय कलीसियाओं को सुयोग्य अगुवे प्रदान करने के पीछे परमेश्वर का उद्देश्य यह बताया गया है कि विश्वासीजन “विश्वास और परमेश्वर के पुत्र की पहचान में” ऐसी उन्नति करें कि “मसीह के पूरे डील-डौल तक बढ़ जाएं”। दूसरे शब्दों में ‘मसीह से भरपूर होते रहने से, हम उसके स्वभाव-स्वरूप में परिवर्तित होते जाते हैं। इस प्रकार इफिसियों 5:18 के “आत्मा से परिपूर्ण होते जाओ” का प्रमुख अर्थ यह है कि परिपूर्णता की विषय-वस्तु स्वयं प्रभु यीशु मसीह है, और यह पवित्र आत्मा का कार्य है। यह उद्धार के समय घटित होने वाली एक घटना मात्र नहीं है बल्कि यह तो एक प्रक्रिया है। पवित्र आत्मा से परिपूर्ण होने के प्रसंग में आध्यात्मिक परिपक्वता की बात बहुत मायने रखती है। किसी व्यक्ति की आत्मिकता का पैमाना यह है : जब उसके जीवन में प्रभु यीशु मसीह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तब वह पवित्र “आत्मा से परिपूर्ण” है।

“मसीह में”

(शारीरिकता से आध्यात्मिकता की ओर)

प्रभु यीशु मसीह पर विश्वास करने पर हम (पुराने) आदम से बाहर और नये (आदम) अर्थात् यीशु के जीवन में प्रवेश करते हैं। नया नियम की शिक्षा के अनुसार “मसीह में” होने का भावार्थ

अत्यन्त महत्वपूर्ण है और एक प्रकार से हमारे आत्मिक जीवन की कुंजी है। यह अथवा इसके समानार्थक शब्द नया नियम में लगभग एक सौ तीस बार प्रयोग हुए हैं। विश्वासी और मसीह के बीच के अद्भुत सम्बन्ध का वर्णन करने के लिए इस्तेमाल किए गये शब्दों में यह दोनों शब्द बहुत ही महत्वपूर्ण हैं - "मसीह में"।

"मसीह में" होना हमारी स्थापना-स्थिति, विशेषाधिकार और हमारी आध्यात्मिक धन-सम्पदा को दर्शाता है। मसीह में होने का मतलब (आत्मिक तौर से) वहां होना है जहाँ वह है : वह होना, जो वह है; वह पाना जो उसका है। वह कहाँ है? स्वर्गिक स्थानों में। हम कहाँ हैं? (आत्मिक मायने में, उसमें होकर) स्वर्गिक स्थानों में। प्रभु परमेश्वर की यह इच्छा है कि यहां रहते हुए भी हम अपना मन स्वर्गिक बातों पर लगा कर जीवन बिताएं (फिलि0 3:20; कुलु0 3:1-2)। मसीह में होने का अर्थ है, उसके स्वरूप, स्वभाव अथवा उसकी तरह होना (प0यूह0 4:17)। इसके अलावा मसीह में होने का अर्थ है, उसका उत्तराधिकारी होना (रोमि0 8:17,32)। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रभु यीशु के सच्चे विश्वासी को आध्यात्मिक करोड़पति की तरह जीना चाहिए (प्रेम, आनन्द, शांति, भलाई इत्यादि में)। जिससे उसे देख कर अन्य लोगों में ऐसी आध्यात्मिक सम्पदा की भूख-प्यास पैदा हो। परन्तु अफसोस है कि अधिकतर विश्वासी लोग आत्मिक कंगालों की तरह (क्रोध, ईर्ष्या, निराशा, हताशा, दलबन्दी एवं अन्य प्रकार की अशोभनीय बातों में) अपना मसीही जीवन बिताते हैं।

अब एक अन्य शब्द समूह पर ध्यान दीजिए - "मसीह मुझमें"। गलातियों की पत्री के दूसरे अध्याय के बीसवें पद में प्राप्त इन शब्दों तथा उस पद में क्रमशः विचार-विकास पर कृपया ध्यान

दें। सबसे पहले पौलुस यह कहता है "मैं क्रूस पर चढ़ाया गया हूँ", तब कहता है कि "मसीह मुझमें" है। दूसरे शब्दों में, ख्रीष्ट जीवन में बढ़ने से पूर्व हमारे अहं का मरना जरूरी है (लूका 9:23)। सच्चा मसीही जीवन ख्रीष्ट के जीवन को इस प्रकार धारण किए रहता है कि पौलुस के समान वह भी कहने लगता है - **"मेरे लिए जीवित रहना मसीह है"** (फिलि0 1:21)। सच्चे मसीही जीवन का अर्थ मसीह द्वारा मेरे मन, इच्छा एवं भावनाओं को इस प्रकार भरना है कि मेरे विचार उसके विचार होते हैं, मेरी इच्छा उसकी इच्छा होती है और मेरी भावनाएं उसकी ओर से प्रेरणा-प्राप्त होती हैं। यह आध्यात्मिक जीवन तब तक **मसीह से परिपूर्ण होते रहने** का जीवन होता है जब तक कि मसीह बिना उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता। अतः कलीसियाओं के लिए पौलुस का यही प्रमुख संदेश रहा - "मसीह तुममें" महिमा की आशा (कुलु0 1:27)। यह संदेश उसने अपनी शिक्षा एवं प्रचार में बखूबी प्रसारित किया। वह प्रत्येक मसीही विश्वासी में ख्रीष्ट के स्वभाव की सुन्दरता देखना चाहता था (गला0 4:19)। इस प्रकार मसीही जीवन (ख्रीष्ट-जीवन) को इन दो शब्द-समूहों के द्वारा परिभाषित किया जा सकता है : "मसीह में" और "मसीह मुझमें"। ख्रीष्ट एवं ख्रिश्चियन को इन सब अद्भुत कामों के द्वारा एकता में लाकर प्रभु परमेश्वर ने ऐसा अद्भुत प्रबन्ध किया है कि ख्रीष्ट स्वर्गिक स्थानों में भी है और पृथ्वी पर भी; और इसी प्रकार ख्रिश्चियन विश्वासी इस धरती पर भी है और स्वर्गिक स्थानों में भी। स्वर्गिक स्थानों में विराजमान मसीह, विश्वासीजन का अदृश्य अंग है; और इस धरती पर जीवित विश्वासीजन, स्वर्गिक स्थानों में विराजमान मसीह का दृश्यमान अंग है।

सब कुछ पिता परमेश्वर की ओर से, उसी के द्वारा और

उसी के लिए है - बैतलहम से जैतून-पर्वत तक मसीह के देहधारी जीवन की यही परिभाषा है। पिता ने जैसे अपने एकलौते पुत्र को भेजा था, उसी प्रकार हमें भी इस संसार में भेजता है। पिता के साथ मसीह का जैसा सम्बन्ध था, वही सम्बन्ध मसीह के साथ हमारा भी होना है। जैसे पिता की शक्ति-सामर्थ्य से परिपूर्ण पुत्र ने उसकी इच्छा को अपने देहधारी स्वरूप में पूर्णरूपेण पूरा किया, उसी प्रकार हमारे जीवन में परमेश्वर की इच्छा केवल मसीह यीशु के जीवन की शक्ति-सामर्थ्य के व्यवहारिक प्रकटीकरण द्वारा ही पूर्ण होगी। सब कुछ परमेश्वर की ओर से, परमेश्वर के द्वारा और परमेश्वर के लिए है - पौलुस का यही भावार्थ था, जब उसने फिलिप्पियों 1:21 में यह लिखा : "मेरे लिए जीवित रहना तो मसीह है, और मरना लाभ है"।

